महर्षि दयानन्द

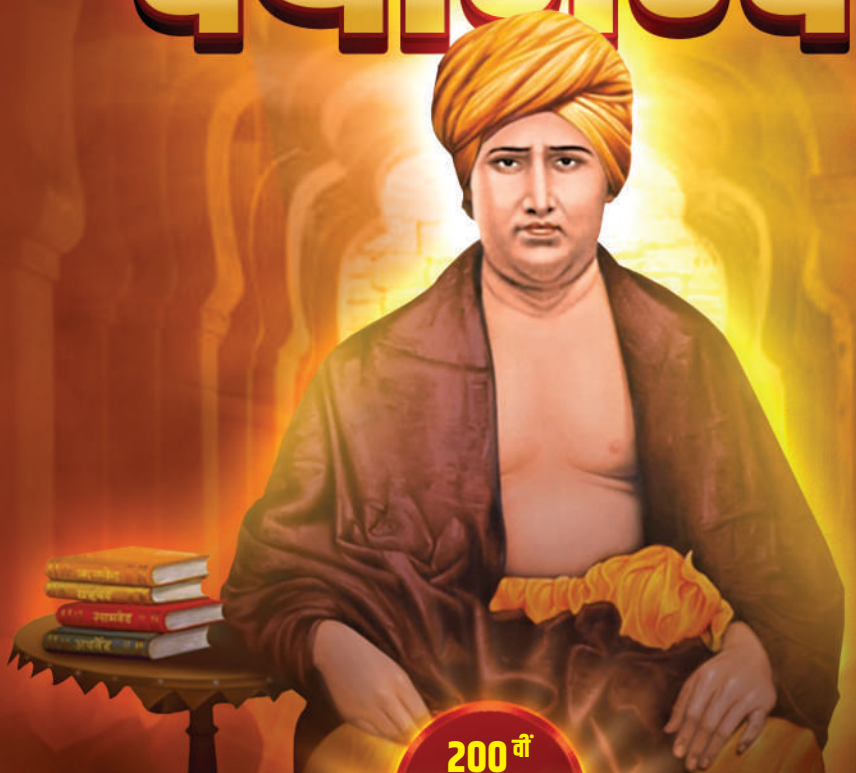

200 वीं जयंती

1824 2024

दो वर्षीय आयोजनों के शुभारंभ
12 फ़रवरी 2023 के अवसर पर प्रकाशित

महर्षि दयानन्द

लेखक - इन्द्र विद्यावाचस्पति

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट
मुख्यालय, 427, गली मन्दिर वाली,
नया बांस, दिल्ली– 110006
दूरभाष– 43781191, 23985545, 9650522778
E-mail : **aspt.india@gmail.com**

➤ द्वितीयावृत्ति (अप्रैल 2023)

लेखक ➤ पंडित इन्द्र विद्यावाचस्पति

संपादक ➤ डॉ. ज्वलन्त कुमार शास्त्री
आचार्य अनिल शास्त्री

© सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशक ➤ आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट
मुख्यालय, 427, गली मन्दिर वाली,
संपर्क नया बांस, दिल्ली– 110006
दूरभाष– 43781191, 23985545, 9650522778
सह प्रकाशक ➤ E-mail : **aspt.india@gmail.com**
संपर्क दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा
15, हनुमान रोड,
नई दिल्ली– 110001
दूरभाष : **011-23360150**
Website : **www.thearyasamaj.org**
E-mail : **aryasabha@yahoo.com**
Mobile : **9540040339,**
Whatsapp No. **9540045898**

मुद्रक ➤ तिलक प्रिंटिंग प्रेस 2046, बाजार सीताराम,
दिल्ली–110006
फोन : 9811748686 / 9811732508

आई.एस.बी.एन. ➤ 978-81-961699-0-9

मूल्य ➤ 40/-

दयानन्दाब्द ➤ 200

विक्रमाब्द ➤ 2080

सृष्टि सम्वत ➤ 1,960853124

प्रथम संस्करण ➤ 5,000

द्वितीयावृत्ति (अप्रैल) 2023 ➤ 20,000

योग ➤ 25,000

thearyasamaj.org

प्रथम संस्करण का प्रकाशकीय...

धन्य है वह टंकारा, गुजरात की पुण्यधरा, जहां महर्षि दयानंद सरस्वती ने जन्म लिया। धन्य थे वे माता-पिता, जिन्होंने महर्षि को जन्म दिया। धन्य थे वे समस्त लोग जिन्होंने महर्षि का बचपन और किशोरावस्था देखी, धन्य थे गुरु विरजानंद दंडी, जिन्होंने युग प्रवर्तक महर्षि को शिक्षा दीक्षा प्रदान की, धन्य थे वे महापुरुष जिन्होंने महर्षि का साक्षात दर्शन किया, धन्य थे वे आर्यवीर बलिदानी जिन्होंने महर्षि की प्रेरणा से भारत माता की परतंत्रता की बेड़ियां काटने के लिए अपना सर्वस्व समर्पित कर अमरता को प्राप्त किया और धन्य हैं हम सभी आर्यजन जो आज महर्षि दयानंद सरस्वती की 200 वीं जयंती एवं आर्य समाज स्थापना के 150 वर्ष पूर्ण होने पर उमंग और उत्साह पूर्वक उनकी प्रेरणा का महोत्सव मना रहे हैं।

संपूर्ण संसार में महर्षि दयानंद सरस्वती एक ऐसी महान विभूति थे,जिन्होंने न केवल भारत राष्ट्र का भाग्योदय किया बल्कि संपूर्ण विश्व को सुदिशा प्रदान कर यह दर्शाया कि मनुष्य असीम शक्तियों का स्वामी है। मनुष्य की मुट्ठियों में आमूलचूल परिवर्तन लाने की अपार क्षमता विद्यमान है। किंतु यह तभी संभव है जब मनुष्य के भीतर जागृति आ जाए, जब वह अपने संभव और संभाव्य अस्तित्व को समझ जाए। महर्षि दयानंद के भीतर किशोर अवस्था में जिज्ञासा का सूर्य उदय हो गया था और उन्होंने अपने त्याग, तपस्या और साधना पूर्ण तपोबल से धरा पर फैले हुए अज्ञान, अविद्या, ढोंग, पाखंड और अंधविश्वास के तम को ऐसा तिरोहित किया कि भारत राष्ट्र सहित संपूर्ण विश्व में नये अरुणोदय की लालिमा प्रकाशित हो गई।

महर्षि का जन्म और जीवन मानव समाज के लिए प्रेरणा की अनमोल पाती है। महर्षि ने मानव कल्याण के लिए आर्य समाज की स्थापना 1875 में की थी, तब से लेकर अब तक लाखों-करोड़ों महापुरुषों ने उनके द्वारा निर्देशित वैदिक पथ पर चलकर अपना जन्म और जीवन सफल किया और युगयुगांतरों तक महर्षि की प्रेरणा से असंख्य जन कल्याण मार्ग के पथिक बनकर मानवता को संपोषित करते रहेंगे। वैदिक धर्म, संस्कृति और संस्कारों

के प्रचार, प्रसार और विस्तार का क्रम अनवरत चलता रहेगा। लेकिन यह तभी संभव है, जब हम सब महर्षि के अनुयाई, उनके सजग सिपाही जागरूक होकर समाज को जगाते रहेंगे, धरती पर बढ़ रहे अज्ञान के अंधेरे को भगाते रहेंगे।

महर्षि दयानंद सरस्वती जी की 200 वीं जयंती मनाने का हमें सौभाग्य मिला है। हमें इस अवसर को चूकना नहीं है, हमें हर चुनौती का सामना साहस से करना है और भारत सहित विश्व को वैदिक धर्मी बनाना है। इसके लिए महर्षि के अनुभूत वैदिक सिद्धांत और मान्यताओं को जानने और आत्मसात करने के लिए उनका प्रेरणाप्रद जीवन चरित्र पढ़ना और समझना अति आवश्यक प्रतीत होता है। यूं तो महर्षि की जीवनी हमारे कई आदर्श महापुरुषों ने लिखने का अनुकरणीय उपक्रम किया है। उनमें से स्वामी श्रद्धानंद जी के सुपुत्र श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति जी द्वारा रचित महर्षि दयानंद, उनकी 200 वीं जयंती एवं आर्य समाज के 150 वें स्थापना दिवस पर आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है। अतः इस कार्य में श्रम करने वाले महानुभावों का धन्यवाद और सभी सुधी पाठकों से अनुरोध कि महर्षि का आदर्श जीवन स्वयं भी पढ़ें और जन जन को भी पढ़ने के लिए प्रेरित करें । महर्षि की शिक्षाओं के अनुसार चलने हेतु यह अत्यंत आवश्यक है। महर्षि की 200 वीं जयंती और आर्य समाज के 150 वर्षों के दो वर्षीय आयोजनों के शुभारंभ 12 फरवरी 2023 के भव्य आयोजन की अभूतपूर्व सफलता के लिए सभी आर्यजनों को हार्दिक बधाई एवं शुभकामनाएं।

धर्मपाल आर्य
प्रधान
आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट

दिनांकः-
12 फरवरी, 2023

thearyasamaj.org

संपादकीय...

वैदिक धर्म के पुनरुद्धारक, आर्यसमाज के प्रवर्त्तक, आर्यावर्त के प्राचीन गौरव के प्रतिष्ठापक महर्षि दयानन्द सरस्वती की 200 वीं जयंती 12 फरवरी 2024 ई. को मनाई जाएगी तथा उनके इस धराधाम पर अवतीर्ण हुए 200 वर्ष फाल्गुन कृष्ण-10, विक्रम संवत 2081 को पूरे हो जाएंगे। महर्षि दयानन्द की प्रथम जन्म शताब्दी फरवरी मास में 1925 ई. में मथुरा में स्वामी श्रद्धानन्द तथा महात्मा नारायण स्वामी के नेतृत्व में मनाई गई थी। 'द्विजन्मशताब्दी' को ध्यान में रखते हुए महर्षि दयानन्द की जीवनी को लाखों की संख्या में प्रकाशित करने के निर्णय से मान्य श्री विनय आर्य, महामंत्री दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा ने मुझे सूचित किया। एतदर्थ महर्षि दयानन्द की प्रेरणाप्रद जीवनी को प्रकाशित करने हेतु सम्पादन का दायित्व मुझे दिया गया।

आर्य समाज के यशस्वी चिन्तक तथा मनीषी निर्देशक श्री पं. इन्द्रजी विद्यावाचस्पति द्वारा लिखित इस जीवनी को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हर्ष और आत्मिक आनंद का होना स्वाभाविक है। इन्द्रजी ने महर्षि दयानन्द की यह जीवनी 1927 ई. में लिखी थी। भाषा भाव में प्रांजलता तथा प्रभावोत्पादकता इन्द्रजी की लेखकीय कुशलता के प्राण तत्व थे। उस समय तक पं. देवेंद्रनाथ मुखोपाध्याय का विस्तृत अनुसन्धानपूर्ण ऋषि दयानंद चरित प्रकाशित नहीं हो पाया था। अतः कुछ इतिहास गत संशोधन पं. इन्द्रजी की इस कृति में करने आवश्यक थे। मुद्रण की कुछ त्रुटियां भी थीं। सार्वदेशिक सभा तथा सार्वदेशिक धर्मार्य सभा के निर्णय भी कुछ विषयों पर 1940 ई., 1960 तथा 1967 ई. में हुए। इन्द्रजी स्वयं सार्वदेशिक सभा के प्रधान अधिकारी थे। अतः इन निर्णयों को संयोजित करते हुए तथा मुद्रण जन्य त्रुटियों को दूर करके शुद्ध तथा स्वच्छ रूप से इसे प्रस्तुत किया जा रहा है। आशा है आर्य जनता तथा विशाल पाठक समुदाय महर्षि दयानन्द की क्रांतिकारी जीवनी को पढ़कर राष्ट्रीय और वैश्विक परिवेश में महर्षि दयानन्द से प्रेरणा प्राप्त करेगा।

-ज्वलन्त शास्त्री (संपादक)
चलभाष-7303474301

महर्षि दयानन्द की 200वीं जयंती
एवं आर्य समाज के 150वें
स्थापना दिवस के 2 वर्षीय
आयोजनों की
श्रृंखला में द्वितीयावृत्ति प्रकाशित

thearyasamaj.org

अनुक्रमणिका

- जन्म और वैराग्य 09
- अमृत की तलाश 16
- विद्या के स्रोत में स्नान 22
- खाण्डव वन 29
- सुधार की प्रारम्भिक दशा 37
- सुधार की मध्यम दशा 41
- गंगा–तट पर सिंहनाद 44
- गढ़ से टक्कर 54
- सुधार की तीसरी दशा 61
- बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना 70
- दिल्ली–दरबार में और पंजाब की ओर 81
- नियमों की दृढ़ नींव 88
- आर्यसमाज का विस्तार 95
- थियोसॉफी से सम्बन्ध 103
- राजपूताना में कार्य 116
- परोपकारिणी सभा का निर्माण 121
- जीवन का अन्तिम दृश्य 124
- आर्यसमाज का संगठन 135
- स्वामी दयानन्द की महानता 139
- स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाशः 145
- महर्षि की प्रेरक शिक्षाएं 153
- महर्षि एवं आर्य समाज के कार्य 157

thearyasamaj.org

महर्षि दयानन्द

जन्म और वैराग्य

काठियावाड़ प्रान्त में मौरवी राज्य के टंकारा नामक छोटे से ग्राम में लालाजी कर्षनजी नाम का एक औदीच्य ब्राह्मण रहता था। विक्रमी सं- 1881 के फाल्गुन मास में उनके यहां एक बालक ने जन्म लिया। जन्मतिथि- फाल्गुन कृष्णपक्ष दशमी, बालक का नाम मूलशंकर रखा गया। संन्यास लेने पर इन्हीं मूलशंकर का नाम दयानन्द पड़ा। अम्बाशंकर के यहाँ औदीच्य ब्राह्मण होने पर भी भिक्षावृत्ति की परंपरा नहीं थी, लेन-देन का व्यवहार होता था और रियासत की ओर से जमींदारी भी प्राप्त थी, जो तहसीलदारी के बराबर थी।

इस प्रकार एक पुराने ढंग के सामान्य घर में दयानन्द का जन्म हुआ। यह जानने का कोई भी उपाय नहीं है कि दयानन्द के माता-पिता किस स्वभाव के थे। यह भी नहीं जाना जा सकता कि बालक मूलशंकर पर प्रभाव डालनेवाले गुरुओं में से कोई ऐसा भी था, जिसे 'असाधारण' कह सकें। प्रारम्भिक जीवन की घटनाओं के बारे में हमें जो कुछ भी पता चलता है, स्वामी दयानन्द का अपना कथन ही उसका साधन है, दूसरा कोई नहीं गुजरातियों में सन्तान से प्रेम बहुत अधिक होता है। परमहंस दयानन्द यह नहीं चाहते थे कि कहीं मेरा परिचय पाकर सम्बन्धी लोग न घेर बैठें। इस डर से वह अपने जीवन के प्रारम्भिक भाग का अधिक परिचय नहीं दिया करते थे। यदि उनके परिवार और शैशवावस्था के वृत्तान्त जानने का कोई साधन होता तो निःसन्देह हमें कई मनोरंजक और प्रेरक बातें जानने का अवसर मिलता। संसार में आकस्मिक कुछ भी नहीं है। जिन घटनाओं को हम आकस्मिक कहते हैं, उन्हें समझने की या तो शक्ति नहीं होती या साधन नहीं होते। शक्ति या साधन के अभाव से बाधित होकर हम अपने अज्ञान को आकस्मिक शब्द के आवरण में छिपाने का यत्न करते हैं। दयानन्द के चित्त में जो-जो विचार-तरंगें उत्पन्न हुई, जो-जो क्रान्तियां खड़ी हुईं, वे आकस्मिक नहीं थीं, तथापि हमें यह मान लेना चाहिए कि उनके कारणों पर पूरा प्रकाश डालने के साधनों का हमारे पास अभाव है। हम नहीं जानते कि मूलशंकर के प्रारम्भिक गुरु कौन थे, और न यही ज्ञात है कि उनके खेल के साथी किस श्रेणी के थे। यह जानने का कोई उपाय नहीं है कि दयानन्द में जो दृढ़ता और निर्भयता थी, वह माता की ओर से प्राप्त हुई थी या पिता की ओर से। अस्तु, जो नहीं जाना जा सकता, उसे छोड़कर हम उसकी ओर दृष्टि डालते हैं जो जाना जा सकता है।

आठवें वर्ष में मूलशंकर का यज्ञोपवीत संस्कार किया गया, और गायत्री,

सन्ध्या, रुद्री आदि कण्ठस्थ कराए गए। इससे प्रतीत होता है कि मूलशंकर जी की स्मरण शक्ति प्रारम्भ से ही अच्छी थी। वह स्मरण शक्ति प्रचार के दिनों में दयानन्द को प्रतिपक्षियों के लिए असह्य बना देती थी। प्रचार के कार्य में कई पण्डितों की अपेक्षा वह महर्षि की अधिक सहायता करती थी। मूलशंकर जी के पिता स्वभाव से कुछ रूखे और कड़े प्रतीत होते हैं। सम्भव है, रियासत की और से उन्हें तहसीलदारी का कार्य सौंपा गया था, जिसके प्रभाव से उनके स्वभाव में उग्रता आ गई हो। उधर मूलशंकर जी की माता प्रेममयी प्रतीत होती हैं। वे अपने बच्चे से वैसा ही लाड करती थीं, जैसा लाड प्रायः माताएं किया करती हैं। मूलशंकर जी के अन्य सम्बन्धियों के विषय में हम इतना ही जानते हैं कि उनके एक चाचा थे जो उनसे बहुत स्नेह करते थे, और अपनी छोटी बहन से भी मूलशंकर का अधिक प्रेम था।

एक ब्राह्मण के बालक को जैसी प्रारम्भिक शिक्षा मिलनी चाहिए, वह मूलशंकर जी को प्राप्त होती रही। 14 वर्ष की आयु तक वें यजुर्वेद संहिता कण्ठस्थ कर चुके थे, व्याकरण में भी उसका प्रवेश हो गया था। इतना पढ़-लिख लेने पर मूलशंकर जी के गुरुओं ने यह सम्मति बनाई कि अब वें इस योग्य हो गये हैं कि कुल-क्रमागत धार्मिक कृत्यों में भी भाग लेने लगें। 1894 विक्रमी की माघ वदी 14 को शिवरात्रि का व्रत था। शायद ही कोई पुराने ढंग का हिन्दू घराना होगा, जहां यह व्रत न मनाया जाता हो। शिवरात्रि की रात को शिव का अर्चन होता है और त्याग करना पड़ता है। अन्न और नींद, दोनों का इकट्ठा ही त्याग अधिक पुण्यजनक समझा जाता है। अनुभवी लोग जानते हैं कि बालकों के लिए इन दोनों में से एक त्याग भी सम्भव नहीं है; फिर जब दोनों का यत्न किया जाय तो कैसा डरावना बन जाता है! मूलशंकर जी के सामने जब शिवरात्रि का व्रत रखने का प्रस्ताव किया गया, तब वह पहले राजी नहीं हुआ। कोई खास लाभ दिखाई दिये बिना कोई भी बालक भूख और नींद से लड़ने को तैयार नहीं होता। इन दो शत्रुओं से युद्ध करना तो जवानों और बूढ़ों के लिए भी दुष्कर है; मूलशंकर जी तो अभी 14 वर्ष के विद्यार्थी थे। माता ने बालक की अनिच्छा में दो-एक युक्तियां देकर सहायता की - लड़का अभी छोटा है, इसे दिन में चार बार खाने की आदत है, यह कैसे भूखा रहेगा रात को, यह अंधेरे से पहले ही सो जाता है, रातभर कैसे जागेगा? हम कल्पना कर सकते हैं कि माता ने प्रेमवश होकर ऐसी ही युक्तियां दी होंगी।

तब पिता ने बालक की कल्पना शक्ति को अपना सहायक बनाने का यत्न किया। शिव का माहात्म्य सुनाया, शिवरात्रि की पुराणों में गाई हुई महिमा बताई और स्वर्ग के सुन्दर दृश्य खींचकर कोमल प्रतिभा को उत्तेजित करने का यत्न

शिवरात्रि का पूजन और महर्षि-बोध

किया। यत्न में सफलता हुई। मूलशंकर जी शिवरात्रि का व्रत रखने के लिए तैयार हो गये। नियत समय पर पुजारी और गृहस्थ लोग मन्दिर में पूजा आदि कार्यों में लग गए। मूलशंकर अपने पिता के साथ बैठे हुए सब कुछ देख और सुन रहे थे। उनका हृदय दिन में सुनी हुई कहानियों से पूर्ण था। विश्वास और श्रद्धा का अंकुर उत्पन्न हो गया था, आशा और सम्भावना से प्रेरित होकर वे व्रत का पूरा पुण्य लूटने के लिए तैयार होकर बैठे थे।

पूजन हो गया। पुजारी और गृहस्थ लोग जागरण के लिए बैठ गए। आँखें धीरे-धीरे मुंदने लगी, सिर झुकने लगे, लोग एक-दूसरे के कन्धे या छाती पर सिर धरकर लुढ़कने लगे। कुछ ही घण्टों में मन्दिर में सन्नाटा छा गया और जो लोग रातभर जगकर पुण्य लूटने का संकल्प किये बैठे थे, वे निद्रादेवी की सुखमय गोद का आनन्द लेने लगे। सब सो गए, केवल एक भक्त जागता रहा। वह भक्त बालक मूलशंकर था। उसकी दृष्टि बराबर शिवलिंग पर गड़ी हुई थी। वह उस अद्‌भुत शक्ति सम्पन्न देवता की ओर चावभरी नजर से देख रहा था। देखता क्या है कि मन्दिर में सन्नाटा पाकर चूहे बिलों से निकल आए हैं; मूर्ति के इर्द-गिर्द चावल आदि के जो दाने पड़े हैं उन्हें खा रहे हैं, और बीच-बीच में ऊपर भी चढ़ जाते हैं। मूलशंकर ने सोचा कि जो महादेव बड़े-बड़े दानवों के व्यतिक्रम को नहीं सह सकता और त्रिशूल लेकर उनका संहार करता है, वह इन मूसों को सिर पर चढ़ने से तो अवश्य रोकेगा। और कुछ नहीं तो सिर हिलाकर उन्हें भगा देगा, परन्तु उसने आश्चर्य और विस्मय से देखा कि वह पत्थर तो पत्थर ही रहा, हिला डुला तक नहीं। तब क्या यह पत्थर ही वह शिव है जो कैलास पर निवास करता है, जिसमें संसार का संहार करने की शक्ति है, जिसके त्रिशूल की ज्योति से दानवों के कलेजे कांप जाते हैं? नहीं, वह कोई और ही शिव होगा- इसमें और उसमें अवश्य भेद है। ये सब विचार मूलशंकर जी के तीव्र प्रतिभा से पूर्ण जिज्ञासु मन में उठने लगे। वे दिन में शिव-माहात्म्य सुन चुके थे। उन्हें वह सब याद आने लगा और जो कुछ देखा उसकी रोशनी में सुना हुआ माहात्म्य निर्मूल प्रतीत होने लगा।

चिन्तित मूलशंकर जी ने शंका निवृत्त करने के लिए पिता को जगाया। पिता के पास प्रतिभाशाली पुत्र के गहरे प्रश्नों का उत्तर कहां था। वह जिज्ञासु की जिज्ञासा को तृप्त न कर सके। मूलशंकर जी निरुत्साहित होकर मन्दिर से घर चले आये और प्रेममयी मां से अपनी भूख की शिकायत की। मैं तो पहले ही कहती थी कि तू भूखा न रह सकेगा इत्यादि बहुत-सी बातें माता ने कही होंगी। माता ने पुत्र को पेट भरकर खिला दिया और बिस्तर पर सुला दिया।

यह घटना मूलशंकर के जीवन में मौलिक परिवर्तन उत्पन्न करने का कारण बनी और मूर्ति पूजा पर से उनकी श्रद्धा उठ गई। कई लोग आशंका किया करते

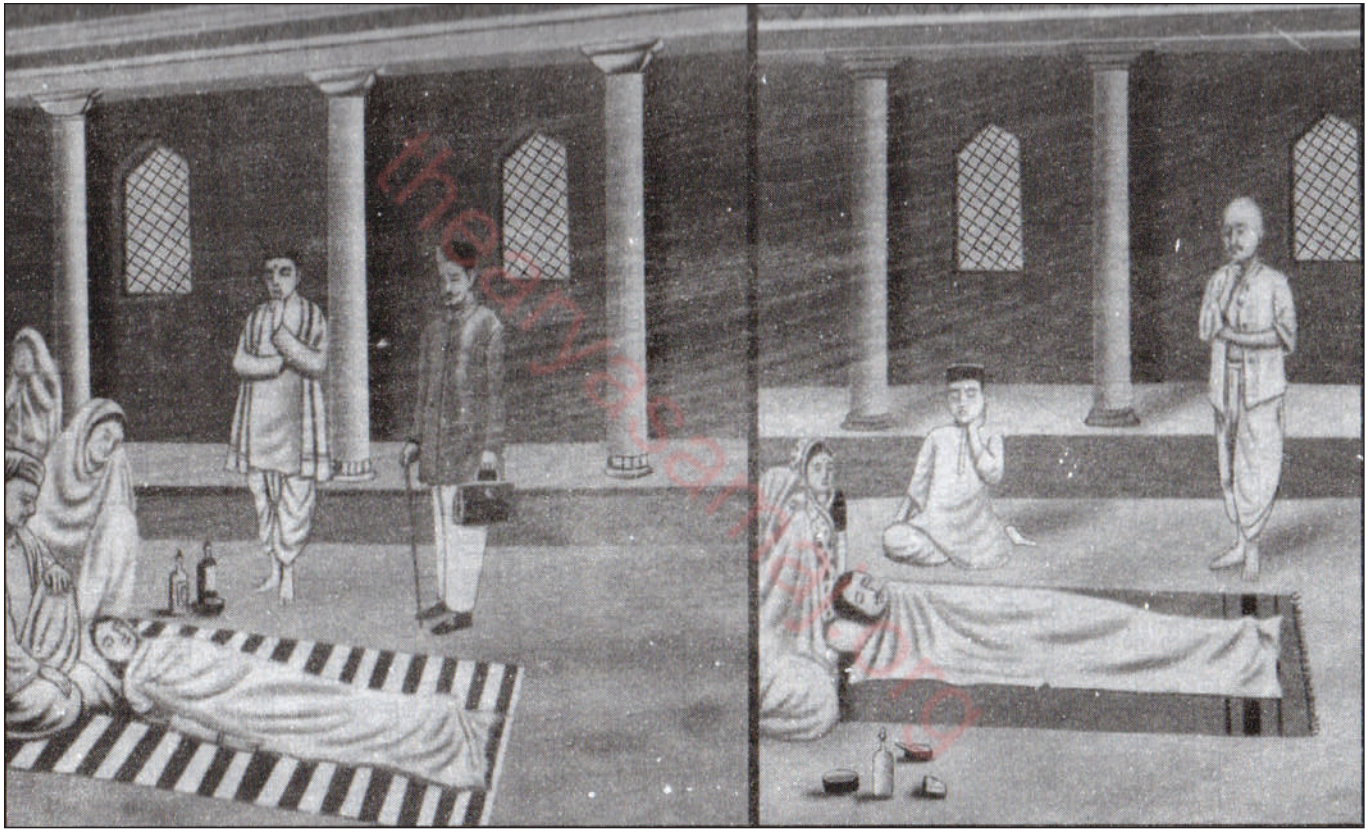

भगिनी और चाचा की मृत्यु और मूलशंकर के मृत्युंजय बनने का दृढ़ संकल्प

हैं कि इतनी छोटी-सी बात और वह भी इतनी छोटी-सी अवस्था में इतना बड़ा परिणाम कैसे उत्पन्न कर सकती थी? अनुभव से देखा गया है कि ऐसी छोटी बातें छोटी अवस्था में ही इतना प्रभाव उत्पन्न करती हैं। उस समय बालक की बुद्धि बड़ी नर्म होती है, उस पर छोटा-सा भी आघात प्रतिक्रिया को उत्पन्न कर देता है। बड़ी अवस्था में बुद्धि कठोर हो जाती है, प्रतिभा अनुभवों के बोझ से दब जाती है और बहुत-सी घटनाएं जो बालक के हृदय में नई होने के कारण उत्तेजना उत्पन्न करती हैं, प्रौढ़ के हृदय में बार-बार देखी हुई होने के कारण कुछ भी प्रभाव उत्पन्न नहीं करतीं। इस घटना के बाद मूर्तिपूजा से मूलशंकर जी की श्रद्धा उठ गई। उन्होंने चाचा और माता की सिफारिश से पिता से पूजा-पाठ के कार्यों से छुटटी ले ली और पठन-पाठन में जी लगा दिया। इस समय दो ऐसी घटनाएं हुई जिन्होंने मूलशंकर जी के स्वच्छ दर्पण के समान हृदय पर स्थायी प्रतिबिम्ब छोड़ दिया। उन घटनाओं का वर्णन चरित-नायक की अपनी भाषा में ही सुनाना उत्तम होगा। महर्षि ने आत्मचरित में उनका इस प्रकार वर्णन किया है- ''मेरी 16 बरस की अवस्था के पीछे मेरी 14 बरस की बहिन थी। उसको हैजा हुआ, जिसका वृत्तान्त यों है एक रात जबकि हम एक मित्र के घर नाच देखने गए हुए थे, तब अचानक नौकर ने आकर खबर दी कि उसे हैजा हो गया है। हम सब तत्काल वहां से आए। वैद्य बुलाए गए, औषधि की, मगर कुछ फायदा न हुआ। चार घण्टों में उसका शरीर छूट गया। मैं उसके बिछौने के पास दीवार से आसरा लेकर खड़ा था। इससे मेरे दिल को बड़ा कष्ट हुआ। मुझे बहुत डर लगा और मारे डर के सोचने लगा कि क्या सारे मनुष्य इसी प्रकार मरेंगे और ऐसे ही मैं भी मर जाऊंगा? सोच-विचार में पड़ गया कि जितने जीव संसार में हैं उनमें से एक भी न बचेगा? इससे कुछ ऐसा उपाय करना चाहिये कि जिससे जन्म-मरणरूपी दुःख से यह जीव छूटे और मुक्त हो, अर्थात् उस समय मेरे चित्त में वैराग्य की जड़ लग गई।''

सब लोग रोने लगे, परन्तु वैराग्य की लहर में बहते हुए मूलशंकर की आंख से आंसू न निकले। बालक मूलशंकर रोने की चिन्ता में नहीं था, वह सदा के लिए रोने से बचने का उपाय ढूंढ रहा था। इस घटना से मूलशंकर के हृदय में वैराग्य का अंकुर उत्पन्न हो गया।

दूसरी घटना का चरित नायक ने इस प्रकार वर्णन किया है- ''जब मेरी अवस्था 19 वर्ष की हुई, तब मुझसे अत्यन्त प्रेम करनेवाले जो बड़े धर्मात्मा तथा विद्वान् मेरे चाचा थे, उनको हैजे ने आ घेरा। मरते समय उन्होंने मुझे पास बुलाया। लोग उनकी नाड़ी देखने लगे। मैं भी पास ही बैठा हुआ था। मेरी ओर देखते ही उनकी आंखों से आंसू बहने लगे। मुझे भी उस समय बहुत रोना आया, यहां तक कि रोते-रोते मेरी आंखें फूल गई। इतना रोना मुझे

पहले कभी न आया था। उस दिन मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मैं भी चाचाजी के सदृश एक दिन मरने वाला हूं।'' तपे हुए लोहे पर चोट लगी। मूलशंकर का हृदय बहिन की मृत्यु के दृश्य से पहले ही नर्म हो चुका था, इस दूसरी चोट ने उसे पूरी तरह वैराग्य की ओर झुका दिया।

शिवलिंग पर चूहों का कूदना हजारों लोग देखते हैं, परन्तु उसे एक साधारण घटना समझकर नजरन्दाज कर जाते हैं। बहनें और सम्बन्धी किसके नहीं मरते ? परन्तु वैराग्य सबको नहीं होता। छोटी-सी घटना से इतना बड़ा परिणाम निकालना हरेक बुद्धि के लिए सम्भव नहीं है, और असाधारण बुद्धि के लिए भी सदा छोटी बात से बड़ा परिणाम निकालना असम्भव है। एक फल को गिरते देखकर पृथिवी की आकर्षण शक्ति का अनुमान सब नहीं कर सकते; पोप की सवारी न जाने कितने पादरियों ने देखी होगी, परन्तु ईसाई धर्म में सुधार की इच्छा सबके हृदय में उत्पन्न नहीं हुई। विशेष प्रतिभाएं ही बिन्दु से विश्व का अनुमान कर सकती हैं। परन्तु आश्चर्य यह है कि बहुत प्रचण्ड प्रतिभाएं भी हरेक विषय में या हर समय एक ही प्रकार से प्रभावित नहीं होतीं। बुद्धदेव ने रोगी या बूढ़ों को देखकर अमर होने का प्रयत्न आरम्भ कर दिया, परन्तु बहुत-सी भौतिक घटनाएं देखकर भी वैज्ञानिक परीक्षण आरम्भ नहीं कर पाये। न्यूटन ने छोटी-सी बात से विज्ञान के बड़े-बड़े सिद्धान्त निकाल लिये, परन्तु बूढ़ों या मरतों को देखकर वैराग्यवान् नहीं हुए। यह विचित्रता पूर्व जन्म के संस्कारों को सिद्ध करती है। पूर्व संस्कार और अद्‌भुत प्रतिभा ये दोनों मिलकर संसार में आश्चर्यजनक कार्य कर सकते हैं। भगवान् के अभीष्ट बड़े-बड़े कार्य इन्हीं दो शक्तियों के मेल से हो सकते हैं। मूलशंकर में भी इन दोनों का समावेश था।

मूलशंकर के हृदय में यह विचार उत्पन्न होने लगा कि मुझे भी कभी मरना पड़ेगा, क्या इससे किसी प्रकार बच सकता हूं? वे विद्वानों और वृद्धों से अमर होने के उपाय पूछने लगे। जब उसके माता-पिता को यह पता लगा तो वे उसे बांधने के लिए विवाह कर देने का संकल्प दृढ़ करने लगे। विचारों का द्वन्द्व-युद्ध होने लगा। मूलशंकर ने इस कारागार से बचने के लिए कभी काशी जाने का प्रस्ताव किया और कभी पड़ोस में विद्याभ्यास सम्पन्न करने की बात उठाई। उसके माता-पिता वैराग्य से बहुत डरते थे, इस कारण उनकी ओर से विवाह की शीघ्रता होने लगी। ऐसी दशाओं में माता-पिता अपनी अधीरता से प्रायः अपना काम बिगाड़ लिया करते हैं। वे छूटने का यत्न करनेवाली सन्तान को यथाशीघ्र बांधने का प्रयत्न करते हैं। यह अधीरता प्रायः दुःखान्त सिद्ध होती है। मूलशंकर के माता-पिता ने भी अपनी अधीरता से बिगड़ते काम को शीघ्र से शीघ्रतर बिगाड़ दिया।

अमृत की तलाश

मूलशंकर जी के जीवन में यह समय विषम परीक्षा का था। वे एक पहाड़ की ऐसी चोटी पर खड़े थे जिसके एक ओर नीचे उतरने की शाही सड़क बनी हुई थी, और दूसरी ओर जिस चोटी पर वे खड़े थे उससे भी अधिक ऊंची चोटियां दिखाई दे रही थीं। बीहड़ जंगल था, कंटीली पगडंडियां थीं और नुकीले पत्थर थे। शाही सड़क पर होकर नीचे उतर आना बहुत सुगम था, परन्तु दूसरी ओर जाना जान को खतरे में डालना था। सरल मार्ग मृत्यु-लोक को जाता है, उस पर अनगिनत प्राणी बड़ी सरलता से चले जा रहे हैं। दुर्गम मार्ग कहां का है? क्या वह अमर लोक का मार्ग है?- कह नहीं सकते। कई लोग उस मार्ग पर चलना आरम्भ करके ऐसी उलझनों में फंसे कि न इधर के ही रहे, न उधर के ही हुए। बहुत-से लोग बीहड़ जंगल में कुछ कदम चलकर यह कहते हुए लौट आए कि बस, जाने दो, यह सब ढोंग है। राजमार्ग का उद्देश्य निश्चित है, दूसरी ओर जाना अंधेरे में कूदने के समान है। विश्वासी जीव कहते हैं कि दूसरी ओर की चोटियों पर अमरलोक है, परन्तु वह किसी ने देखा नहीं। उद्देश्य संदिग्ध मार्ग विकट! क्या इससे अधिक विषम समस्या भी हो सकती है?

परन्तु मूलशंकर जी को इस विषम दशा में अधिक भटकना नहीं पड़ा। उन्होंने इस प्रकार विचार किया, एक ओर राजमार्ग है, वह मृत्यु का रास्ता है। यह निश्चित है। वह मार्ग नीचे की ओर जाता है, यह भी निश्चित है। इस कारण वह हेय है। दूसरी ओर अमरता की सम्भावना है। नाश के निश्चय से बचाव की सम्भावना बहुत अच्छी है। यह सोचकर मूलशंकर जी ने निश्चित मृत्यु की ओर ले जानेवाले राजमार्ग का एकदम त्याग कर दिया और सम्भावित अमरपद की तलाश के लिए कमर कस ली। विवाह का झंझट देखकर उन्होंने समझ लिया कि इस संसार का तिलिस्मी द्वार खुल गया है। यह तिलिस्मी द्वार हरेक युवा और युवती को अपनी ओर बड़े वेग से खींचता है। जहां द्वार के अन्दर पांव धरा कि पीछे के किवाड़ स्वयं बन्द हो जाते हैं। पीछे लौटने के लिए सीधा रास्ता बिल्कुल बन्द हो जाता है। मूलशंकर जी ने देखा कि

सिद्धपुर के मेले में शुद्ध चेतन ब्रह्मचारी और पिताजी की अन्तिम भेंट

द्वार खुल गया उसमें एक पग रखने की देर है। द्वार बन्द होते ही अमरलोक एक हल्का-सा सपना रह जाएगा-पैर जंजीरों में बंध जाएंगे।

अमृत के प्यासे मूलशंकर जी ने प्रेममय घर और सरल राजमार्ग को लात मारकर 21 वर्ष की आयु में बीहड़ वन का रास्ता पकड़ा। वे ज्येष्ठ मास की एक सांझ को घर त्यागकर निकल गए।

मूलशंकर जी 1903 विक्रमी के ज्येष्ठ मास में घर का त्याग किया और 1917 विक्रमी के कार्तिक मास में विरजानन्द दण्डी जी के पास मथुरा पहुंचे। बीच के इन 15 वर्षों में उन्होंने एक सच्चे जिज्ञासु का जीवन व्यतीत किया। घर से सम्बन्ध तोड़ दिया। घर छोड़ने के कुछ मास बाद केवल एक बार सिद्धपुर के मेले में एक वैरागी पुत्र का समाचार पाकर मूलशंकर जी के पिता ने उन्हें आ पकड़ा था। जब पिता ने कई सिपाहियों के साथ आकर पकड़ लिया, तब पिता के चरणों में सिर झुकाने के सिवा क्या चारा था। पिता सिपाहियों के पहरे में रखकर मूलशंकर जी को घर की ओर वापस ले चले, परन्तु जिसे धुन समाई थी वह अब कैद में फंसने वाला न था। रात के समय सिपाहियों को सोते देख मूलशंकर फिर भाग निकले। दूसरा सारा दिन उन्होंने एक बड़े पेड़ पर छिपकर बिताया। पिता ऐसे बेमुरब्बत पुत्र से निराश होकर घर वापस चले गए, और मूलशंकर जी ने अपना रास्ता पकड़ लिया। इसके पश्चात् मूलशंकर जी का घरवालों से कभी साक्षात्कार नहीं हुआ।

मूलशंकर जी को एक ही धुन थी कि मृत्यु से छूटने का उपाय जाना जाय। उन्हें बताया गया था कि मृत्यु से छूटने का उपाय योग है। मूलशंकर योगी की तलाश में शहर, गांव और जंगल में भ्रमण करने लगे। पहले-पहल तो नया होने के कारण उसे ठग-साधुओं ने खूब लूटा, रेशमी वस्त्र तक धरा लिये, परन्तु धीरे-धीरे कुछ विवेक होता गया; वह जिज्ञासु अब ठगों और सन्तों में भेद करने लगा। घर से भागने पर पहला काम मूलशंकर जी ने यह किया था कि सामला नामक ग्राम में एक ब्रह्मचारी की प्रेरणा से दीक्षा लेकर अपना नाम शुद्धचैतन्य ब्रह्मचारी रखा। बहुत समय तक जिज्ञासु ने ब्रह्मचारी रहकर भ्रमण किया, परन्तु ब्रह्मचारी को उस समय गुजरात में संन्यासियों की भांति बना-बनाया भोजन नहीं मिलता था, हाथ से बनाना पड़ता था। इससे शुद्धचैतन्य के पठन-पाठन में बहुत विघ्न होता था। उसने कई संन्यासियों से संन्यास लेने का यत्न किया, परन्तु थोड़ी आयु देखकर वे लोग संकोच करते रहे। नर्मदा नदी के तट पर घूमते हुए उन्हें पूर्णानन्द सरस्वती नाम के विद्वान् साधु के दर्शन करने का अवसर मिला। उनसे भी शुद्धचैतन्य ने संन्यास देने

की प्रार्थना की। पहले तो उन्होंने कुछ संकोच किया, परन्तु अन्य साधुओं की सिफारिश आने पर संन्यास देना स्वीकार कर लिया। तब पूर्णानन्द सरस्वती से संन्यास लेकर शुद्धचेतन महर्षि दयानन्द सरस्वती बन गये।

घर से निकलकर कुछ समय तक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने गुजरात में ही भ्रमण किया। वहां से बड़ौदा होते हुए चेतनमठ होकर नर्मदा के तट पर चिरकाल तक भिन्न-भिन्न स्थानों में निवास किया। नर्मदा-तट से आबू में ठहरकर सं0 1912 के कुम्भ पर महर्षि दयानन्द हरिद्वार आए और वहां के मठों और महन्तों की माया का पहली बार दिग्दर्शन किया। हरिद्वार से आप हिमालय की ओर चल दिये और सच्चे योगी की तलाश में कठिन से कठिन चोटियों पर चढ़कर, गुफाओं में घुसकर और घाटियां पार करके सच्चे जिज्ञासु होने का परिचय दिया।

इस भ्रमण में महर्षि दयानन्द ने कई सच्चे और झूठे योगियों के दर्शन किये। झूठे योगियों से उन्हें घृणा उत्पन्न हो जाती थी और सच्चे योगियों से वे कुछ-न-कुछ सीख ही लिया करते थे। चाणोद कल्याणी में वास करते हुए आपका योगानन्द नाम के एक योगी से परिचय हुआ। देर तक महर्षि ने उनसे योग की क्रियाएं सीखीं। अहमदाबाद में दो और योगियों ज्वालानन्दपुरी तथा शिवानन्द गिरि से उन्हें योगविद्या सीखने का अवसर मिला था। इस प्रकार मिले हुए अवसरों से जिज्ञासु महर्षि ने पूरा लाभ उठाया।

हरिद्वार से टिहरी राज्य की ओर जाते हुए महर्षि जी को तन्त्र-ग्रन्थ देखने का अवसर मिला। उन ग्रन्थों को देखकर उनके चित्त में इतनी घृणा हुई कि वह फिर अनेक नई व्याख्याएं सुनकर भी दूर नहीं हुई। टिहरी से विद्या और योग की धुन में मस्त महर्षि ने केदारघाट, रुद्रप्रयाग, सिद्धाश्रम आदि का भ्रमण करते हुए मठों और मन्दिरों की दुर्दशा को अच्छी तरह देखा। तुंगनाथ की चोटी पर चढ़ते हुए उन्हें आशा थी कि ऊपर कुछ अच्छा दृश्य देखने को मिलेगा वहां पहुंचकर भी देखा तो वैसा ही मन्दिर, वैसे ही पुजारी, सब लीला मैदान जैसी ही थी। गुप्त काशी का दौरा लगाकर महर्षि दयानन्द सरस्वती ओखीमठ पहुंचे। ओखीमठ हिमालय का प्रसिद्ध मठ है। वहां की गुफाओं में जिज्ञासु और सच्चे महात्माओं की बहुत तलाश की, परन्तु वहां भी चरस और सुल्फे के धुएं से सब कुछ आच्छन्न ही दिखाई दिया।

यहां के एक महन्त ने महर्षि जी से बातचीत करके यह संकल्प किया कि उन्हें अपना मुख्य चेला बनाकर उत्तराधिकारी बनाए। ऐसा भव्य और पठित शिष्य उसे कहां मिलता? उसने अपना भाव दयानन्द जी के सामने प्रकाशित

किया और यह भी बताया कि मठ के साथ द्रव्य की राशि भी कुछ कम नहीं है। महर्षि दयानन्द ने उत्तर दिया कि 'यदि मुझे धन की अभिलाषा होती तो मैं अपने बाप की सम्पत्ति को, जो तुम्हारे इस माल और दौलत से कहीं बढ़कर थी, न छोड़ता। फिर भी महर्षि दयानन्द ने कहा कि जिस उद्देश्य से मैंने घर छोड़ा और सांसारिक ऐश्वर्य से मुंह मोड़ा, न तुम उसके लिए यत्न कर रहे हो और न तुम्हें उसका ज्ञान है। फिर तुम्हारे पास मेरा रहना किस प्रकार सम्भव है। यह सुनकर महन्त ने पूछा कि वह कौन-सी वस्तु है जिसकी तुम्हें खोज है और तुम इतना परिश्रम कर रहे हो? दयानन्द ने उत्तर दिया कि मैं सत्य योगविद्या और मोक्ष की खोज में हूं और जब तक ये प्राप्त न होंगे, तब तक बराबर देशवासियों की सेवा करता रहूंगा।'

मठ के महन्त के पास धन था, ऐश्वर्य था, परन्तु न सत्य था, न योग था और न मोक्ष का उपाय था। इस कारण वह जिज्ञासु महर्षि दयानन्द को न बांध सका। ओखीमठ से जोशीमठ होते हुए आप बदरीनारायण गए। आपने सुन रखा था कि बदरीनारायण के आसपास योगी रहा करते हैं। बदरीनारायण को भी योगियों से बिल्कुल शून्य पाकर योग के अभिलाषी महर्षि ने आसपास की चोटियों और गुफाओं में खोज करने का संकल्प किया। चारों ओर बर्फ पड़ी हुई थी। पहाड़ियों का पानी नुकीले पत्थरों में से होकर बहता हुआ रास्तों को रोक रहा था। महर्षि दयानन्द ने इन कठिनाइयों की पर्वाह न करते हुए खोज जारी रखी। घूमते-घूमते आप अलकनन्दा नदी के किनारे पहुंचे और उसे पार करने के लिए पानी में घुस गए। इसी नदी में किसी-किसी स्थान पर घुटने तक जल था, और कहीं-कहीं गहराई बहुत अधिक थी। चौड़ाई कोई 10 हाथ के लगभग होगी। पानी बर्फ के समान ठण्डा था और बीच-बीच में नोकदार पत्थर और बर्फ के टुकड़े भी बिखरे हुए थे। शरीर पर कपड़ा बहुत हल्का था और पांव बिल्कुल नंगे थे। महर्षि दयानन्द की दशा बहुत ही शोचनीय हो गई। पानी के अन्दर कुछ समय के लिए तो बिल्कुल मूर्छित-से हो गए, परन्तु धैर्य से अपने-आपको बचाए रखा। किसी प्रकार पार तो हुए, पर एक ओर सर्दी, दूसरी ओर भूख। पांव पत्थरों से छिल गए थे और उनसे लहू बह रहा था। आगे जाने की हिम्मत न रही। परन्तु वहां ठहरकर रात बिताने में भी मृत्यु का सामना था। उस समय परमात्मा की कृपा से भक्त को सहायता मिली। दो पहाड़ी राही ऊपर से आ निकले। वे पहाड़ी यद्यपि महर्षि दयानन्द को साथ न ले जा सके, तो भी कुछ ढाढस बंध गया। थोड़ी देर सुस्ताकर महर्षि जी उठ खड़े हुए और वसुधा तीर्थ पर कुछ विश्राम करके बदरीनारायण को लौट गए।

बदरीनारायण के आसपास योगी के दर्शन करने की अभिलाषा में निराश होकर जिज्ञासु ने स्थल की ओर मुंह मोड़ा। रामपुर, द्रोणसागर और मुरादाबाद होते हुए आप गढ़मुक्तेश्वर पहुंच गए। गंगा के किनारे घूम रहे थे। प्रवाह में बहता हुआ एक मुर्दा उन्हें दिखाई दिया। दयानन्द ने हठयोग प्रदीपिका आदि में शरीर के आभ्यन्तर अंगों के सम्बन्ध में बहुत-कुछ पढ़ रखा था। उनके सत्यासत्य निर्णय का उचित अवसर जानकर आप पानी में कूद पड़े और मुर्दे को किनारे पर खींच लिया। लाश किनारे पर रखकर चाकू से चीर-फाड़ की तो उन ग्रन्थों का बोझ उठाने से कोई लाभ न देखकर महर्षि दयानन्द ने उन सबको फाड़कर गंगा-प्रवाह में अर्पण कर दिया। गंगा तट का भ्रमण करके महर्षि जी दक्षिण की ओर जा निकले और बहुत दिनों तक नर्मदा के तट पर घूमते रहे। वहां बड़े-बड़े घने जंगल हैं। एक जंगल में आपका एक बड़े भालू से सामना हो गया। भालू को देखकर वह डरे नहीं, प्रत्युत अपना सोटा उठाकर उसकी ओर को बढ़ाया। सोटे से डरकर चिंघाड़ता हुआ वह भालू जंगल में भाग गया। अंधेरे में कहीं ठहरने का स्थान ढूंढते ढूंढते जंगल में कुछ कुटियां दिखाई दीं। पास जाने पर कोई जागता हुआ प्राणी न मिला तब सारी रात आपने एक वृक्ष पर बैठकर गुजारी। प्रातः काल जब ग्रामवासियों ने एक संन्यासी को देखा तो रात के कष्ट के लिए बहुत क्षमा मांगी और उचित आदर-सत्कार किया।

नर्मदा के तट पर महर्षि दयानन्द ने लगभग तीन वर्ष भ्रमण किया। भ्रमण में आपने सुना कि मथुरा में एक योगी और दण्डी विद्वान् रहते हैं। योग और विद्या के अभिलाषी ने यह समाचार सुनते ही मथुरा की ओर मुंह मोड़ा और कार्तिक सुदी 2, सम्वत् 1917., तदनुसार 14 नवम्बर 1860 के दिन मथुरा में स्वामी विरजानन्द जी का दरवाजा जा खटखटाया।

पन्द्रह वर्षों तक जिज्ञासु महर्षि दयानन्द ने पहाड़ों और मैदानों को नाप डाला। इतने शारीरिक कष्ट सहे और तपश्चर्या की यह सब किस लिए? सत्ययोग और मोक्ष की प्राप्ति के लिए। परन्तु न हिमालय की सर्दी में दिल की आग बुझी और न गंगा व नर्मदा के जलों ने ज्वाला को शान्त किया। जिज्ञासु महर्षि अब दण्डी स्वामी के द्वार पर विद्या के स्रोत में हृदय का ताप बुझाने पहुंचते हैं। चलो पाठक! देखें कि उन्हें वहां कहां तक सफलता प्राप्त होती है।

विद्या के स्रोत में स्नान

यह स्वामी विरजानन्द जी कौन हैं? पंजाब में कर्तारपुर के समीप गंगापुर नाम का एक ग्राम था। उसमें नारायणदत्त नाम का सारस्वत ब्राह्मण रहता था। महर्षि दयानन्द के गुरु स्वामी विरजानन्द दण्डी ने उसी के घर जन्म लिया था। बचपन से ही बालक पर आपत्तियों का आक्रमण आरम्भ हुआ। 5 वर्ष की आयु में चेचक ने उनकी आंखें शक्तिहीन कर दीं और 11वें वर्ष में बालक के माता-पिता होनहार बच्चे को अनाथ छोड़कर परलोक सिधार गए। बालक के पालन-पोषण का बोझ बड़े भाई के कन्धों पर पड़ा। बड़ा भाई साधारण दुनियादार भाइयों की भांति नासमझ था। वह एक अन्धे अतएव अनुपयोगी भाई की पेट पालना में कोई विशेष लाभ नहीं देखता था। भाई और भावज की कृपा से तंग आकर शीघ्र ही बालक को घर छोड़ना पड़ा।

घर से भागकर प्रतिभाशाली युवक ऋषिकेश और हरिद्वार पहुंचा और वर्षों तक विद्याध्ययन तथा तपश्चर्या द्वारा अपनी आत्मा को संस्कृत करता रहा। हरिद्वार में ही स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती की दया से उसे संन्यास मिला। संन्यासी विरजानन्द विद्या की तलाश में हरिद्वार, कनखल, काशी, गया आदि में चिरकाल तक घूमते रहे और विद्वानों से व्याकरण तथा अन्य शास्त्रों का अध्ययन करते रहे। अमृत के प्यासे महर्षि दयानन्द के गुरु बनने का अधिकार उसी तपस्वी को हो सकता था, जिसने एक उद्देश्य के लिए तपस्या की हो, किसी उत्तम पदार्थ की खोज में कोने-कोने छान मारे हों। इस दृष्टि से देखें तो स्वामी विरजानन्द जी महर्षि दयानन्द के गुरु बनने के पूर्णतया अधिकारी थे।

विद्याध्ययन कर लेने पर दण्डी जी ने विद्यार्थियों को पढ़ाना आरम्भ किया। उनके यश का विस्तार चारों ओर होने लगा; विशेषकर व्याकरण में उनका पाण्डित्य बहुत ऊंचे दर्जे का समझा जाता था। उनके पाण्डित्य और मधुर श्लोक-गान से प्रसन्न होकर अलवर के राजा ने कुछ दिनों तक उन्हें अपने यहां रखा। राजा की प्रार्थना पर दण्डी जी यह शर्त करके अलवर गए थे कि प्रतिदिन राजा 3 घण्टे तक अध्ययन किया करेगा। विलासी राजा अपने प्रण को निभा न सका, परन्तु संन्यासी ने अपना प्रण निभाया। जिस दिन राजा पढ़ने नहीं आया, उससे अगले दिन दण्डी जी का आसन अलवर से उठ गया।

कुछ समय रजवाड़ों में बिताकर स्वामी विरजानन्द जी ने मथुरा में अपना आसन जमाया। व्याकरण पढ़ने की इच्छा रखनेवाले विद्यार्थी दूर देशों से यहां तक कि काशी से भी दण्डी जी के पास आते थे। व्याकरण में दण्डी जी का पाण्डित्य अपूर्व हो गया था। इस समय उनके जीवन में एक विशेष परिवर्तन करनेवाली घटना घटित हुई। पड़ोस में एक दक्षिणी पण्डित रहता था। वह प्रतिदिन मूल अष्टाध्यायी का पाठ किया करता था। दण्डी जी उस समय तक सिद्धान्त कौमुदी, मनोरमा और शेखर को ही व्याकरण का आदि और अन्त समझते थे। मूल अष्टाध्यायी का पाठ सुनकर मानो उनकी आंखें खुल गई। उन्हें प्रतीत हुआ कि व्याकरण का ऋषि निर्णीत क्रम कुछ और ही है। अष्टाध्यायों के सूत्र-क्रम को देखते ही उनके हृदय में धारणा हो गई कि कौमुदीकार का बनाया हुआ क्रम अस्वाभाविक है और अष्टाध्यायी के महत्तव को कम करने वाला है। यह धारणा होते ही दण्डी जी ने दीक्षित के ग्रन्थों का और उनके साथ ही अन्य सब अर्वाचीन व्याकरण-ग्रन्थों का त्याग कर दिया। जनश्रुति है कि उनका यमुना में प्रवाह कर दिया। अष्टाध्यायी का क्रम दण्डी जी को इतना पसन्द आया कि उन्होंने अपने शिष्यों के पास जितने अर्वाचीन ग्रन्थ थे, वे सब फिंकवा या जलवा दिये। अष्टाध्यायी और महाभाष्य इन दो को हृदय के आसन पर बिठा लिया।

क्रिया-प्रतिक्रिया का सिद्धान्त संसार में सभी जगह पाया जाता है। पानी एक ओर को बह रहा है। सामने पहाड़ की भारी चट्टान आ जाती है। पानी उल्टे पांव भागता है। उसके उल्टे भागने का वेग आगे बढ़ने के वेग के अनुपात से होगा। यदि पानी धीमी गति से आगे बढ़ रहा था तो धीमी चाल से ही पीछे को लौटेगा, परन्तु यदि जल का प्रवाह वेगवान् हो तो उल्टी ठोकर भी जोर की लगेगी। दण्डी जी के विचार प्रवाह में भी जोर की ठोकर लगी। वह कौमुदी, मनोरमा और शेखर के प्रवाह में बड़े वेग से बहे जा रहे थे। अष्टाध्यायी का मूल सूत्र क्रम सुनकर और उसका सरल सौन्दर्य देखकर प्रज्ञाचक्षु की आंखें खुल गईं। उन्हें भान होने लगा कि ऋषि-कृत व्याकरण का क्रम कौमुदी के गढ़े हुए क्रम से बहुत उत्कृष्ट है। इतना उत्तम होते हुए भी सूत्र क्रम गुम क्यों हो गया? कारण यही प्रतीत होता था कि भट्टोजिदीक्षित ने सिद्धान्त कौमुदी बनाकर सूत्र क्रम को पीछे फेंक दिया। इससे दण्डी जी का सारा असन्तोष भट्टोजिदीक्षित पर केन्द्रित हो गया। अष्टाध्यायी और महाभाष्य से उनका प्रेम ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता था, भट्टोजिदीक्षित से त्यों-त्यों उन्हें घृणा होती जाती थी।

धीरे-धीरे उनके हृदय में यह निश्चय सा हो गया कि जब तक कौमुदी और उससे सम्बन्ध रखने वाले ग्रन्थों का प्रचार नहीं रुक जाता, तब तक व्याकरण की ऋषि-कृत पद्धति का उद्धार नहीं हो सकता। यह विचार दण्डी जी के मन में समा गया, उनके दिल पर सवार हो गया। यही विचार दिन का चिन्तन और रात का सपना हो गया। एक बार जयपुर के राजा रामसिंह ने दण्डी जी को दरबार में बुलाकर अपने यशस्वी होने का उपाय पूछा। ऋषि-कृत ग्रन्थों के भक्त दण्डी जी ने उत्तर में यह आदेश किया कि एक बड़ी सभा करके देशभर के विद्वानों को एकत्र करो। सभी में इस विषय पर शास्त्रार्थ हो कि व्याकरण का ऋषि-कृत क्रम अच्छा है या कौमुदी का? दण्डी जी ने कहा कि मैं उस सभा में यह सिद्ध करके दिखा दूंगा कि ऋषि-कृत क्रम ठीक है और कौमुदी आदि ग्रन्थ अशुद्धियों से भरपूर हैं। दूसरे एक अवसर पर मथुरा के कलेक्टर मि० पोस्टली दण्डी जी से मिलने आए। मि० पोस्टली ने सभ्यता के तौर पर पूछा कि आप क्या चाहते हैं. जो हम कर सकें? दण्डी जी ने उत्तर दिया कि यदि आप हमारी इच्छा पूरी करना चाहते हैं तो भट्टोजिदीक्षित के सब ग्रन्थों को इकट्ठा करके जलवा दें। यह भी प्रसिद्ध है कि दण्डी जी दीक्षित के ग्रन्थों पर शिष्यों के हाथों से जूते लगवाया करते थे।

क्या यह उचित था? -अष्टाध्यायी या कौमुदी के सम्बन्ध में स्वतन्त्र सम्मति रखना दण्डी जी के लिए सर्वथा उचित था। यह उनका अधिकार था। ग्रन्थों की उपयोगिता तथा अनुपयोगिता के विषय में स्वतन्त्र सम्मति रखने का विद्वानों को पूरा अधिकार है। हम यह भी नहीं कह सकते कि उनकी सम्मति निर्मूल थी। अष्टाध्यायी की पद्धति का निर्माण पाणिनि मुनि ने किया है। सूत्रों का क्रम अष्टाध्यायी का जीवन है। यदि क्रम की उपेक्षा कर दी जाय तो सूत्र व्यर्थ हैं। अनुवृत्ति असम्भव हो जाती है, **विप्रतिषेधे परं कार्यम्।** बिल्कुल व्यर्थ हो जाता है और **पूर्वत्राऽसिद्धम्** का कुछ बल ही नहीं रहता। अष्टाध्यायी के सूत्रों का इतना लघु-कार्य होना क्रम पर ही आश्रित है। उसका सौन्दर्य, उसका गौरव, बहुत-कुछ क्रम पर अवलम्बित है। क्रम को छोड़कर यदि सूत्रों को कार्य में लाया जाय, तो अनुवृत्ति के लिए स्मृति पर बोझ डालना पड़ता है, पर कार्य और असिद्धि का तो अनुमान मात्र ही लगाया जा सकता है। यह कहा जा सकता है कि जो आदमी संस्कृत व्याकरण का विद्वान् बनना चाहे, वह यदि सिद्धान्त कौमुदी को साद्यन्त पढ़ जाय, तो भी सूत्रक्रम से परिचित हुए बिना वह सफलता प्राप्त नहीं कर सकेगा। अष्टाध्यायी और उसके सूत्रों के क्रम का अटूट सम्बन्ध है।

स्वामी विरजानन्द जी ने देखा कि लोग सिद्धान्त कौमुदी को पढ़कर सूत्र-क्रम की उपेक्षा करते हैं। भट्टोजिदीक्षित के देखने में सरल परन्तु वस्तुतः दुर्गम ग्रन्थ ने ऋषि-कृत व्याकरण का लोप कर दिया है। उनकी अन्तरात्मा इससे खिन्न होकर प्रचलित पद्धति के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए खड़ी हो गई। विद्रोह के समय प्रायः सीमा का उल्लंघन हो जाता है। दण्डी जी के क्षोभ ने भी जब उग्र रूप धारण किया तब मर्यादा का अतिक्रमण कर दिया, इसमें सन्देह नहीं। ग्रन्थ को नदी में बहाने से कभी उसका लोप नहीं हुआ और न कभी जूतों या पांव के तले रौंदने से उसका प्रचार रुका है। परिणाम प्रायः उल्टा ही होता है। आज भारतभूमि में सिद्धान्त कौमुदी की छपी हुई प्रतियां दण्डी जी के समय की अपेक्षा बहुत अधिक हैं, परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि दण्डी जी का यत्न व्यर्थ गया। जिस सत्य का अनुभव उन्होंने किया और अपने शिष्यों को कराया, उसे देश के एक बड़े भाग ने अंगीकार कर लिया है। आज सूत्र क्रम पर श्रद्धा रखनेवाले विद्वानों की संख्या और मूल अष्टाध्यायी की प्रकाशित प्रतियों की संख्या भी दण्डी जी के समय से बहुत अधिक हैं। सत्य ने अपना प्रभाव पैदा किया है। इसकी सहायता में यदि कहीं सीमा का उल्लंघन हो गया था तो वह फल का महत्त्व देखते हुए अब विस्मरण करने योग्य है। जहां एक ओर उसका अनुसरण बिल्कुल त्याज्य है, वहां दूसरी ओर बारम्बार उसे दोहराकर शिकायत करना बुद्धिमत्ता में शामिल नहीं है।

अस्तु, ऐसे दण्डी विरजानन्द जी थे, जिनके द्वार पर कार्तिक सुदी 2, सम्वत् 1917 (14 नवम्बर 1860) के दिन महर्षि दयानन्द सरस्वती ने जाकर आवाज दी। परिचय हो जाने पर दण्डी जी ने पूछा कि क्या कुछ व्याकरण पढ़ा है? महर्षि दयानन्द ने उत्तर दिया कि सारस्वत पढ़ा हूं। इस पर आज्ञा हुई कि पहले सब अनार्ष ग्रन्थ यमुना में बहा आओ, तब आर्ष ग्रन्थ पढ़ने के अधिकारी हो सकोगे। दयानन्द ने आज्ञा का पालन किया और योग्य गुरु के चरणों में बैठकर विद्यामृत-पान का यत्न आरम्भ किया।

महर्षि जी का विद्यार्थी जीवन अनुकरणीय था। प्रातःकाल कुछ चने चबा लेते थे, जो उन्हें दुर्गा खत्री की कृपा से प्राप्त होते थे। मथुरा के बहुत से विद्यार्थियों के भोजन का प्रबन्ध बाबा अमरलाल जोशी की ओर से था; स्वामी जी के भोजन का प्रबन्ध भी वहीं पर था। रात्रि में भी सोने से पहले वह कुछ-न-कुछ बहुत-से अभ्यास किया करते थे, जिसके लिए तेल का मासिक खर्च चार आने लाला गोवर्धन सर्राफ से प्राप्त होता था। इसी प्रकार

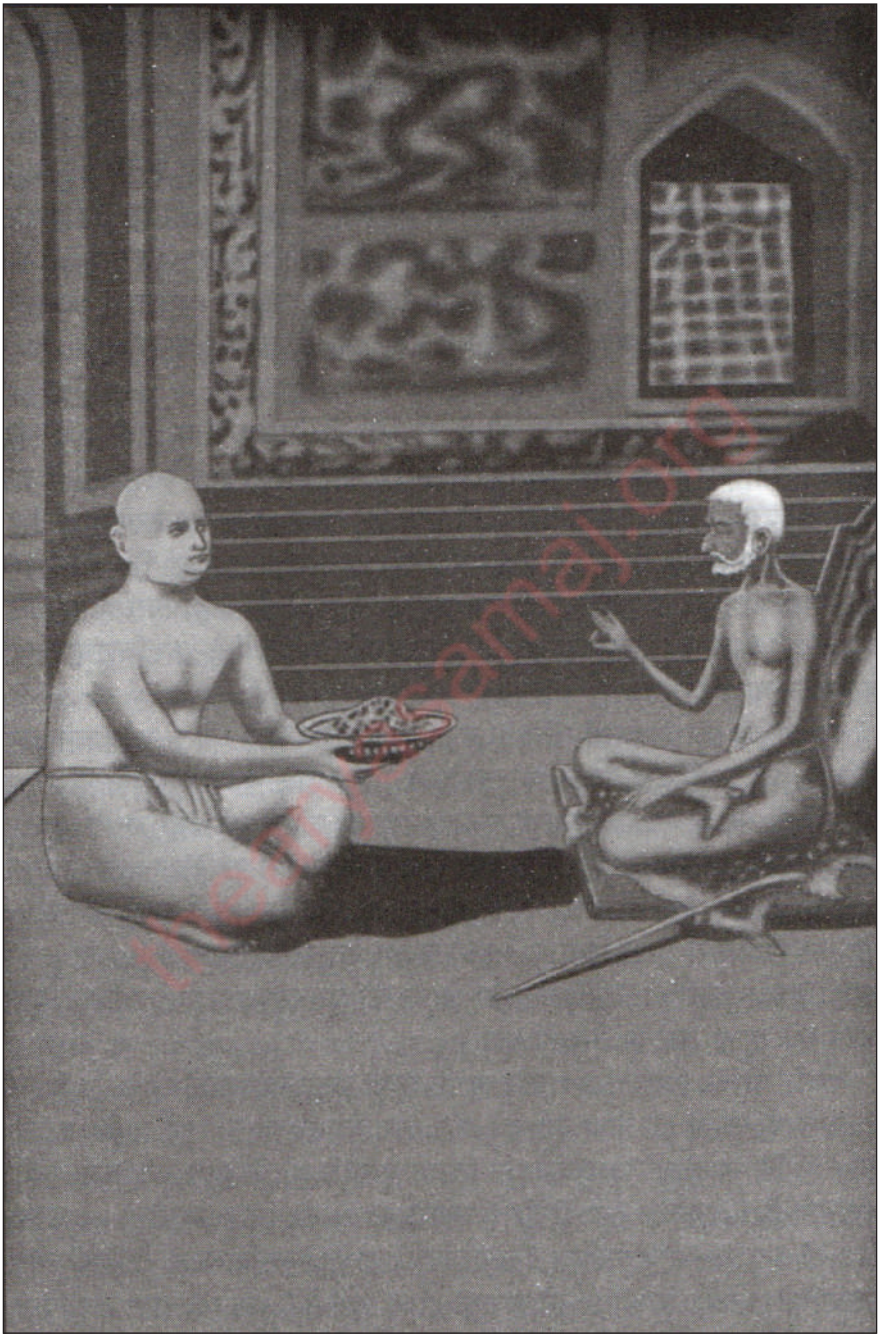

गुरु दक्षिणा का अपूर्व दृश्य (गुरु विरजानन्द)

उदार महानुभावों की सहायता से आवश्यकताएं पूरी हो जाती थीं, और शिष्य को गुरु-सेवा करते हुए विद्याध्ययन करने का खुला अवसर मिलता था।

दण्डी जी का स्वभाव उग्र था। कभी-कभी बहुत नाराज हो जाते थे। शिष्यों के हाथ पर लाठी भी जमा देते थे। एक बार महर्षि जी की भी बारी आ गई। कहते हैं कि लाठी की उस चोट का निशान महर्षि जी के हाथ पर मरण- पर्यन्त बना रहा जिसे देखकर वह गुरु के उपकारों का स्मरण किया करते थे। एक बार छोटे-से अपराध पर ड्योढ़ी बन्द कर दी गई। तब योग्य शिष्य ने दो हितैषियों से सिफारिश कराई। सिफारिश से सन्तुष्ट होकर गुरु ने शिष्य को क्षमा कर दिया।

महर्षि दयानन्द का जीवन पूरे यति का जीवन था। जिस दिन से वह जिज्ञासु बने, उस दिन से मन, वाणी और कर्म से ब्रह्मचारी रहने का कठोर व्रत धारण किया। विद्यार्थी जीवन में महर्षि दयानन्द ने पूर्ण ब्रह्मचारी रहने का उद्योग किया। एक दिन की घटना है कि आप नदी के तट पर सन्ध्या कर रहे थे। ध्यान खुला तो क्या देखते हैं कि एक युवती चरणों का स्पर्श कर रही है। चरणस्पर्श भक्ति से था, परन्तु पूर्ण ब्रह्मचारी ने उतने स्त्री- स्पर्श को भी पाप समझा और कई दिनों तक एकान्त में जाकर निराहार व्रत द्वारा हृदय को शुद्ध किया।

दण्डी जी से महर्षि ने अष्टाध्यायी, महाभाष्य आदि व्याकरण-ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य आर्ष ग्रन्थों का भी अध्ययन किया। इससे यह न समझना चाहिए कि आपने गुरु से केवल ग्रन्थों की विद्या ही प्राप्त की उस ग्रन्थविद्या से कहीं बढ़कर वे भाव थे, जो उन्हें गुरु से प्राप्त हुए। आधुनिक या अर्वाचीन ग्रन्थों को छोड़कर प्राचीन आर्ष ग्रन्थों में श्रद्धा, मूर्ति-पूजा आदि कुरीतियों से वैराग्य और कठोर संयम, इन सबके लिए महर्षि दयानन्द अपने गुरु के आभारी थे।

विद्याध्ययन समाप्त हुआ। रीति के अनुसार शिष्य कुछ लोंगों की भेंट लेकर गुरु के चरणों में उपस्थित हुआ और निवेदन करने लगा कि महाराज, मेरे पास और कुछ नहीं है जो भेंट करूं, इस कारण केवल आध सेर लोंग लेकर उपस्थित हुआ हूं। गुरु ने कहा-मैं तुझसे ऐसी चीज मांगूंगा जो तेरे पास उपस्थित है। महर्षि दयानन्द के बद्धांजलि होने पर गुरु ने आदेश किया- (बड़े दु:ख की बात है कि गुरु के उस समय के शब्द यथार्थ रूप में प्राप्त नहीं होते। जीवनचरित लिखने वालों ने दण्डी जी के वाक्य अपनी-अपनी रुचि के अनुसार गढ़े हैं। पं० लेखराम जी के सम्पादित किये जीवन-चरित में जो शब्द दिये गए हैं वे बहुत कुछ स्वाभाविक हैं। यह कहा जा सकता

है कि यदि दण्डी जी ने ठीक वे शब्द नहीं कहे थे तो कम-से-कम भावार्थ वही होगा। वहां दण्डी जी के निम्नलिखित शब्द दिये गए हैं-)

''देश का उपकार करो। सत् शास्त्रों का उद्धार करो। मत-मतांतरों की अविद्या को मिटाओ और वैदिक धर्म फैलाओ!'' दयानन्द ने आदेश को अंगीकार किया। अन्त में आशीर्वाद देते हुए दण्डी जी ने और भी कहा- 'मनुष्य कृत ग्रन्थों में परमेश्वर और ऋषियों की निन्दा है और ऋषिकृत ग्रन्थों में नहीं, इस कसौटी को हाथ से न छोड़ना!'

इस अमूल्य उपदेश को शिरोधार्य करके महर्षि दयानन्द संन्यासी अपने गुरु के द्वार से विदा हुए। जो वस्तु पर्वत की चोटी पर, वन की गहराई में, नदियों के प्रवाह में, और महन्तों के डेरों में ढूंढी, पर न मिली, वह अमृत के प्यासे महर्षि दयानन्द को मथुरापुरी में दण्डी विरजानन्द के चरणों में मिली। वह वस्तु विद्या और विवेक-बुद्धि थी। उस वस्तु को पाकर, ब्रह्मचर्य के तेज से तेजस्वी ब्रह्मचारी संसार-क्षेत्र में प्रवेश करता है।

thearyasamaj.org

खाण्डव वन

जिस समय गुरु से आशीर्वाद लेकर महर्षि दयानन्द ने कार्य-क्षेत्र में पांव धरा, आर्यजाति की दशा उस समय मुक्त कण्ठ से चिल्ला-चिल्लाकर कह रही थी कि मुझे एक वैद्य की आवश्यकता है। भारत देश अज्ञान, पराधीनता, शत्रु और दु:खों के कारण सर्पों और कांटेदार झाड़ियों से भरे हुए खाण्डव वन के समान दुर्गम और बीहड़ हो रहा था। उसे आवश्यकता थी एक अर्जुन की, जो एक ओर अरणियों की रगड़ से आग निकालकर दावानल को प्रज्वलित करे और दूसरी ओर आग बुझाने का यत्न करनेवाले देवों और असुरों के आक्रमणों का उत्तर दे सके। आर्यजाति की दुर्दशा उस समय एक सुधारक को बुला रही थी, एक ऐसे परखैय्ये को बुला रही थी जो उसके पीड़ित अंगों पर शान्ति देनेवाला हाथ रख सके। इस परिच्छेद में हम देखेंगे कि उस दुर्दशा का क्या इतिहास और क्या स्वरूप था। अगला सम्पूर्ण भाग, महर्षि दयानन्द ने उस दुर्दशा को सुधारने का जो यत्न किया, उसके अर्पण किया जाएगा।

बहुत पहले ऐतिहासिक काल से पहले, वेद और प्रधानतया वैदिक साहित्य केवल भारत की सीमाओं में परिमित हो चुका था। जो लोग ईरान में बसे या ग्रीस में पहुंचे वे भारतीय आर्यों के बन्धु थे, परन्तु यह विषय यथार्थ इतिहास का होते हुए भी कल्पनात्मक है। जिस समय इतिहास के प्रकाश में दुनिया अपना मुंह उघाड़ती है, भारतवर्ष का धर्म और सामाजिक संगठन अन्य सब देशों से भिन्न ही मिलता है। ऐतिहासिक काल से पूर्व भारतवर्ष एक अलग इकाई बन चुका था। यही कारण है कि इतिहास हमें भारतवर्ष के धार्मिक और सामाजिक परिवर्तनों का जितना ब्यौरा सुनाता है, वह देश की सीमाओं से परिमित है। भारत के धार्मिक परिवर्तनों का प्रभाव सीमाओं से बाहर बहुत ही कम पड़ता है, और बाहर के धार्मिक परिवर्तनों का प्रभाव भारत पर तभी पड़ता है जब उन धर्मों के अनुयायी लोग विजेताओं के रूप में देश में आ जाते हैं।

भारत का धन, उसका विस्तार और उसकी अन्दरूनी भिन्नता आदि सब बातें बाहर के विजेताओं को खींचती रही हैं। समय-समय पर बाहर की लड़ाकू जातियां सस्ता शिकार मारने के लिए इस स्वर्णदेश पर छापा मारती

रही हैं। भारत पर मुख्य-मुख्य धावे 4 श्रेणियों में बांटे जा सकते हैं। पहला धावा सिकन्दर का था। दूसरा धावा उत्तर की अनेक जातियों का था, जो सदियों तक जारी रहा। कभी हूण, कभी सीथियन और कभी पारसीक लोग भारत को जीतने का यत्न करते. रहे। तीसरा धावा इस्लाम का हुआ, जो पहले के धावों से जबरदस्त, सबसे अधिक स्थायी और सबसे भारी असर उत्पन्न करने वाला हुआ। चौथा धावा यूरोपियन जातियों का है, जो यद्यपि बहुत पुराना नहीं है तो भी बड़ा गहरा है, बड़ा जबरदस्त है और इस्लाम से भी भयंकर है।

भारत के धार्मिक परिवर्तनों पर ये चारों आक्रमण बड़ा गहरा असर उत्पन्न करते रहे हैं, परन्तु इसका यह अभिप्राय न समझना चाहिये कि केवल बाहर के प्रभाव ही भारत के धार्मिक विचारों को हिलाते रहे हैं। समय-समय पर आवश्यकता होने पर आन्तरिक प्रतिक्रिया भी उत्पन्न होती रही है। जाति की जरूरत के अनुसार बदले हुए वायुमण्डल के साथ अनुकूलता पैदा करने के लिए या बिगड़े हुए ढांचे को सुधारने के लिए ऐसे सुधारक पैदा होते रहे हैं जो बिगड़ी को बनाने का यत्न करते रहे हैं। यदि भारतवर्ष के धार्मिक परिवर्तनों का इतिहास देखा जाए, तो हमें ज्ञात होगा कि उसमें आंतरिक प्रतिक्रिया और बाह्य आक्रमण- दोनों का ही प्रभाव है।

यूनानियों के आक्रमण से पूर्व जो बड़े-बड़े धार्मिक परिवर्तन हुए, वे मुख्यतया आन्तरिक प्रतिक्रिया के ही परिणाम थे। ब्राह्मण-ग्रन्थों के यागप्रधान धर्म के विरुद्ध उपनिषदों के ज्ञानवाद की प्रतिक्रिया हुई। फिर वही विकार उत्पन्न होने पर बौद्ध धर्म प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न हुआ। ये दोनों बड़ी-बड़ी प्रतिक्रियाएं बाहर के प्रभाव से शून्य थीं। ये केवल अन्दर से उत्पन्न हुई थीं। यही कारण था कि ये सब एक ही शरीर के अंगों के समान परस्पर पूर्णता उत्पन्न करती थीं। ब्राह्मण और उपनिषद् आदि ग्रन्थ एक-दूसरे के हाथ में हाथ डालकर चलते रहे और एक ही पुरुष के आंख-कान के सदृश जीवित रहे। उपनिषदों का ऊंचा ब्रह्मज्ञान धीरे-धीरे क्रियाहीन ईश्वर-विश्वास के रूप में परिणत हो गया और ब्राह्मण-ग्रन्थों का कर्मकांड हिंसापूर्ण यज्ञ-प्रक्रिया की पद्धतियों में तब्दील हो गया। उस समय महात्मा बुद्ध ने क्रियात्मक धर्म का उपदेश देते हुए प्रेम और त्याग का संदेश सुनाया और एक सार्वभौम धर्म की नींव डाली।

बुद्ध के पीछे भारत पर सिकन्दर का आक्रमण हुआ। सिकन्दर का भारत में निवास बहुत थोड़े समय तक हुआ। उसका कोई गहरा प्रभाव दिखाई नहीं देता, तो भी हम दो बड़ी घटनाओं में उसके दृष्टांत की छाया देख सकते

हैं। चन्द्रगुप्त मौर्य का साम्राज्य-यत्न सिकन्दर के उदाहरण से प्रभावित हुआ था और अशोक का धर्म साम्राज्य स्थापित करने का उद्योग भी सिकन्दर की सार्वभौम विजय के यत्न से प्रभावित हुआ हो तो कोई आश्चर्य नहीं। जैसे चन्द्रगुप्त का भारतीय साम्राज्य यूनान के अभीष्ट भारतीय साम्राज्य का उत्तर था, इसी प्रकार अशोक का धार्मिक आक्रमण यूनान की सभ्यता और संस्कृति के आक्रमण का प्रत्युत्तर था।

यही दशा हम गुप्त काल में देखते हैं। गुप्त सम्राटों का राजनैतिक साम्राज्य हूणों और सीथियनों के आक्रमणों से देश की रक्षार्थ एक प्रकार का दुर्ग था। राजनैतिक संगठन प्रायः बाहर से आनेवाली चोटों के कारण ही उत्पन्न हुआ करते हैं। गुप्त साम्राज्य उत्तर की जातियों की विजयकामना का फल था। साथ ही पुराने ब्राह्मण-धर्म का पौराणिक धर्म के रूप में संगठन जहां एक ओर आर्य-जाति की आन्तरिक स्थिति को सूचित करनेवाला बाह्य चिह्न था, वहीं साथ ही वह उत्तर दिशा के असभ्य आक्रमणकारियों के प्रभाव से भी हीन नहीं था। पौराणिक धर्म के संगठन में अन्दर की हलचल और बाहर की क्रिया दोनों ही स्पष्ट दिखाई देती हैं।

बहुत काल पीछे लगभग 11वीं शताब्दी के आरम्भ में मुसलमानों का भारत पर दूसरा आक्रमण प्रारम्भ होता है। इस्लाम का भारत पर तब राजनैतिक आक्रमण नहीं था। वह आक्रमण प्रधानतया धार्मिक था राजनैतिक विजय उसका केवल आनुषंगिक फल था। इस्लाम की तलवार भारत को मुसलमान बनाने आई थी। आकर देखा तो शिकार को निर्बल पाया। छिन्न-भिन्न भारत थोड़े ही यत्न में राजनैतिक पराधीनता में आ गया। तलवार का असली उद्देश्य भारत को धार्मिक दृष्टि से विजित करना था। यह निश्चय से कहा जा सकता है कि इस उद्देश्य में इस्लाम को काफी सफलता प्राप्त नहीं हुई। कारण यह है कि जहां भारत कई सदियों तक पराधीन रहकर भी अपनी सम्मिलित राजनैतिक शक्ति को मुसलमानों की राजनैतिक शक्ति के विरोध में खड़ा न कर सका, वहां उसने प्रारम्भ से ही अपने धार्मिक संगठन को समयानुकूल परिवर्तित करके आत्मरक्षा के लिए खड़ा कर दिया था।

मुसलमानों के सुदीर्घ काल में भारत के धर्म में हमें जो उतार-चढ़ाव दिखाई देते हैं, वे दो प्रकार के हैं। एक और बाह्य आक्रमण को रोकने के लिए खाइयां खुद रही हैं, दूसरी ओर कई स्थानों पर एक विश्वव्यापी सिद्धान्त में इस्लाम और हिन्दू-धर्म को सम्मिलित करने के प्रयत्न हो रहे हैं। इन दोनों ही में हमें बाहर का असर दिखाई देता है। सती-प्रथा, पर्दा, खान-पान के

बन्धन, जाति के कड़े विभाग, छूत-छात ये बाड़ें थीं जिनका उद्देश्य भारतीय धर्म की इस्लाम से रक्षा करना था। सदियों तक भारतीय धर्म इस्लाम के प्रभाव को रोकने के लिए चेष्टा करता रहा और इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि जैसी असफलता धार्मिक दृष्टि से इस्लाम को भारत में हुई, वैसी कहीं नहीं हुई।

परन्तु जो बांध इस्लाम की गति को रोकने के लिए बन रहे थे, वे हर प्रकार से लाभदायक ही सिद्ध नहीं हुए। उन्होंने शुद्ध हवा का प्रवेश रोक दिया, उन्नति और विकास के लिए गुंजाइश न छोड़ी और धर्म के बलवान् प्रवाह को घेरकर काई, मच्छर और कीचड़ का घर बना दिया। शत्रु के धावे को रोकने के लिए शहर के निवासी चारों ओर खाई खोद लेते हैं, ऊंची दीवार चुन देते हैं. बाहर आना-जाना रुक जाता है। शत्रु अन्दर नहीं आ सकता, परन्तु शहर के निवासी भी बाहर नहीं जा सकते। उन्नति रुक जाती है, खाना-पीना कम हो जाता है. महामारी पड़ जाती है। यदि कोई नगर अपनी रक्षा भी करना चाहे और महामारी से भी न मरना चाहे तो उसके लिए एक ही मार्ग है कि वह किले से निकलकर शत्रु पर जा टूटे और उसे मार भगाए। दुर्भाग्य से उस समय हिन्दू धर्म में जान नहीं थी। वह आत्म-रक्षा में लगा रहा, इस्लाम पर प्रत्याक्रमण करने का उसने विचार नहीं किया। फल यह हुआ कि घर में महामारी पड़ गई। 19वीं शताब्दी के मध्य में हम भारत के असली धर्म को जंजीरों से बंधा हुआ, दीवारों से घिरा हुआ और शहतीरों से दबा हुआ पाते हैं।

मुसलमान-काल के अन्तिम भाग में अकबर की उदार धर्म-नीति के प्रभाव में कुछ ऐसे भी यत्न हुए जिनका उद्देश्य धर्म के विश्वरूप को आगे रखकर हिन्दू-मुसलमान के भेद को मिटाना था। भक्त कबीर ऐसे यत्न करनेवालों में से मुख्य थे। कबीर के शिष्य उसके सिद्धान्त का निम्नलिखित शब्दों में वर्णन करते हैं-

सबसे हिलिये सबसे मिलिये, सबका लीजिये नाउं।
हां जी हां जी सबसे कीजिये, बसे आपने गाउँ॥

भक्त कबीर के वचनों से ज्ञात होगा कि वह धर्म के व्यापक रूप में भेदों को किस प्रकार तिरोहित करना चाहते थे।

कबीर के शिष्य बुल्ला साहिब ने अपने झूलने में यह कविता लिखी हैं-

जहं आदि न अन्त न मध्य है रे, जहं अलख निरंजन है मेला।
जहं वेद कितेब न भेद है रे, नहिं हिन्दु तुरक, न गुरू चेला॥
जहं जीवन मरन न हानि है रे, अगम अपार में जाय खेला।
बुल्ला दास अतीत यों बोलिआ री, सतगुरु सत शब्द देला॥

मारवाड़ के भक्त दरिया साहिब ने हिन्दू-मुसलमान दोनों को एक ही पलड़े में डाल दिया है-

मुसलमान हिन्दू कहा, घट दरसन रंक राव।
जन दरिया निज नाम बिन, सब पर जम का दाव॥

दूलनदास जी अपने झूलने में कहते हैं-

हिन्दू तुरक दुइ दीन आलम, आपनी ताकीन में।
यह भी न दूलन खूब है, करूं ध्यान दशरथनन्द का॥

वही कवि सत्तनाम में वेद के विषय में कहते हैं-

तीन लोक तो वेद बखाना।
चौथ लोक का मर्म न जाना ॥

भक्तराज धरनीदास जी कहते हैं-

एक धनी धन मोरा हो।
जो धन ते जन भए धनी, बहु हिन्दू तुरक कटोरा हो।
सो धन धरनी सहजहिं पावौं, केवल सतगुरु के निहोरा हो॥

कबीर तथा अन्य भक्तों का यह यत्न चाहे कितना ही उत्तम था, परन्तु उसमें सफलता नहीं हुई। सफलता न होने का कारण स्पष्ट है। भक्त लोग दो ऐसे धर्मों को मिलाना चाहते थे, जिनके मिलने में दो बड़ी-बड़ी रुकावटें थीं। पहली रुकावट राजनैतिक थी। मुसलमान विजेता थे, हिन्दू विजित थे। जहां एक ओर विजेता विजित के धर्म को तुच्छ मानकर उसके साथ संधि करने को उद्यत नहीं होता, वहां विजित जाति यदि इतिहास और आत्माभिमान रखती हो तो कभी विजेता के धर्म को स्वीकार करने के लिए उद्यत नहीं होती। राजनैतिक पराजय से गए हुए आत्म-सम्मान को वह धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में चौगुने हठ के साथ संभालने का यत्न करती है। कबीर और उसके साथियों की असफलता का दूसरा कारण यह हुआ कि वे ऐसे दो धर्मों को मिलाना चाहते थे, जो मौलिक रूप से भिन्न हैं, जिनकी आधारभूत कल्पनाएं ही अलग-अलग हैं।

मिलाने के यत्न निष्फल हुए। हिन्दू-धर्म ने प्रत्याक्रमण करने का यत्न न करके आत्मरक्षा के लिए खाई खोदी, दीवार चुनी; यहां तक कि दम घुटने लगा, उचित भोजन के अभाव से ढांचा ढीला होने लगा, अंग से अंग अलग हो गया। हारे हुए, घिरे हुए, भूखे किले में सदा फूट पड़ जाया करती है। हिन्दू-धर्म के घिरे हुए किले में भी फूट पड़ गई। परिणामतः अनगिनत मत और सम्प्रदाय उत्पन्न हो गए जिनकी अधिक संख्या का अनुमान इसी से

लग सकता है कि वैष्णव, शैव और शाक्त इन तीन बड़े पन्थों में से केवल वैष्णव मत के ही निम्नलिखित 20 सम्प्रदाय थे जो एक-दूसरे को झूठा मानते और कहते थे-

(1) श्री सम्प्रदाय, (2) वल्लभाचारी, (3) मध्वाचारी या ब्रह्म सम्प्रदाय, (4) सनकादिक सम्प्रदाय या नीमावत, (5) रामानन्दी या रामावत, (6) राधावल्लभी, (7) नित्यानन्दी, (8) कबीरपन्थी, (9) खाकी, (10) मलूकदासी, (11) दादूपन्थी, (12) रमदासी, (13) सेनाई, (14) मीराबाई, (15) सखीभाव, (16) चरणादासी, (17) हरिश्चन्द्री (18) साधनापन्थी, (19) माधवी, (20) वैरागी और नागे संन्यासी।

शैवों के 7 बड़े भेद थे-

(1) संन्यासी दण्डी आदि, (2) योगी, (3) जंगम, (4) ऊर्ध्वबाहु, (5) गूदड़, (6) रूखड़, (7) कड़ालिंगी।

शाक्तिकों के बड़े भेद निम्नलिखित थे-

(1) दक्षिणाचारी, (2) वामी, (3) कानचेलिये, (4) करारी, (5) अघोरी, (6) गाणपत्य, (7) सौरपत्य (8) नानकपन्थी, (9) बाबा लालो, (10) प्राणनाथी, (11) साध, (12) सन्तनामी, (13) शिवनारायणी, (14) शून्यवादी। ('आर्य दर्पण' जून 1880 ई०)

तालिका यह दिखाने के लिए उद्धृत की गई है कि 19वीं शताब्दी के मध्य में हिन्दू धर्म का ढांचा किस प्रकार से बिगड़ चुका था। भेद बेहद बढ़ गए थे। अनाचार पूरे जोर पर था। धर्म की प्रेरिका शक्ति जाती रही थी।

भारत का प्राचीन आर्य-धर्म जब इस सड़ांध की दशा में था, तब देश पर चौथे विदेशी तूफान का आक्रमण हुआ। यूरोपियन जातियां आखेट भूमि की टोह लगाती हुई भारत के समुद्र समीपवर्ती सीमाप्रान्तों पर आ पहुंचीं। उन्हें किस प्रकार देश में प्रवेश मिला, किस प्रकार देश की बिगड़ी हुई दशा ने उन्हें यहां आधिपत्य जमाने में सहायता दी, किस प्रकार अन्य शक्तियों को परास्त करके अंग्रेजों ने प्रभुत्व जमाने में सफलता प्राप्त की- ये सब विषय राजनैतिक इतिहास के हैं। हमें यहां यह देखना है कि यूरोपियन सफलता का प्रभाव भारत के धार्मिक विचारों पर किस प्रकार पड़ा। यूरोपियन जातियां अपने साथ दो वस्तुएं लाई-ईसाइयत और पाश्चात्य सभ्यता। इन दोनों का भारत पर एक साथ असर हुआ। इस्लाम तलवार के साथ आया था, वह बड़े वेग से फैला, परन्तु उसका प्रतिरोध भी उसी वेग से हुआ। ईसाइयत का प्रचार दूसरी विधि से हुआ। उस विधि में शिक्षणालय, प्रचार का संगठन और प्रलोभन

ये तीन साधन प्रधान थे। ईसाइयों ने स्कूल और कॉलेज खोलकर भारत के शिक्षित समाज को खोखला कर देने का यत्न किया। कुछ काल तक उस यत्न में सफलता भी मिली। ईसाइयों का प्रचार-सम्बन्धी संगठन पहले ही बहुत बढ़िया था, भारत के अनुभव से उसमें और भी अधिक पूर्णता आ गई। जो भारतवासी ईसाई बन गए, वे चाहे किसी भी दर्जे के थे, सरकारी नौकरियों में उन्हें तरजीह दी जाने लगी। इस प्रकार ईसाई धर्म धीरे-धीरे परन्तु निश्चित रूप से देश की जड़ों में प्रवेश करने लगा।

जब तक इस्लाम का प्रचार तलवार के जोर से होता रहा, हिन्दू-धर्म भी उससे बचने के लिए अपने कोट के चारों ओर खाइयां खोदता रहा, परन्तु अकबर तथा उसके दो उत्तरवर्ती बादशाहों ने गहरे शान्त उपायों से इस्लाम की जड़ पाताल में पहुंचाने का उद्योग किया। तब ऐसे भक्तजन उत्पन्न हुए जिन्होंने हिन्दू-मुसलमानों के परस्पर भेदों को दूर करके एकेश्वरवाद के झण्डे के तले जाने का यत्न किया। फिर जब औरंगजेब ने शान्त नीति का परित्याग किया, तब उत्तर और दक्षिण में हिन्दू धर्म तलवार लेकर उठ खड़ा हुआ, यह स्मरण रखना चाहिए कि औरंगजेब की अनुदार धार्मिक नीति से पहले सिख मत भी हिन्दू-मुसलमानों के भेद को मिटाने का ही एक यत्न था।

ईसाइयत का प्रचार अकबर की नीति से शुरू हुआ। परिणाम भी वैसा ही हुआ। विश्वासी भारतवासियों के हृदय ने बिना किसी आशंका के ईसाइयत के प्रभावों का स्वागत किया। बड़ी प्रतिष्ठा और योग्यता रखनेवाले अनेक भारतवासी, जो शायद तलवारी धर्म का सामना करने में तलवार के घाट उतरने को सहर्ष उद्यत होते, इस शान्त धावे के शिकार हुए। ईसाई काल के कुछ ही समय पीछे कबीर जैसी सोच रखने वाले राममोहन राय आदि भी जन्म लेने लगे। धर्म के विश्वरूप से ईसाइयत और हिन्दूपन के भेद को खपा देने का उद्योग बंगाल में ब्राह्मसमाज ने उठाया। यदि ब्राह्मसमाज के इतिहास को विस्तार से पढ़ें तो हमें प्रतीत होगा कि उसके नेताओं का उद्योग ईसाइयत और हिन्दू धर्म की मध्यमावस्था निकालकर दोनों को साथ-साथ दीर्घजीवी बनाने के लिए था-हिन्दूपन को ईसाइयत की कलम लगाकर उस रगड़ को दूर करने के लिए था, जिसका शीघ्र या देर में उत्पन्न होना अवश्यम्भावी था।

शान्त परन्तु गहरे और पेचदार उपायों से ईसाइयत भारत के धार्मिक दुर्ग में प्रवेश कर रही थी। वह दुर्ग बड़ी शोचनीय दशा में था। रीति और बन्धन की जो बाड़ें इस्लाम के धावे को रोकने के लिए बनाई गई थीं, वे अपनी ही वृद्धि को रोक रही थीं। चारदीवारी से घिर जाने के कारण दुर्ग के निवासियों

में फूट पड़ी हुई थी। यदि संक्षेप में दुर्ग की दशा को कहना हो तो हम कहेंगे कि भारत के निजधर्म–हिन्दू धर्म–को रूढ़ि और तुच्छ भेदों के रोग लगे हुए थे। एक ओर बन्धन और रीति–रिवाज का जोर, दूसरी ओर तुच्छ भेदों के कारण एकता का नाश–ये दो रोग थे, जिनसे भारत का धर्मरूपी शरीर पीड़ित हो गया था। ईसाइयत के कीटाणु हवा और पानी के साथ चुपचाप उस शरीर में प्रवेश कर रहे थे। ब्राह्मसमाज ने इस दशा का अनुभव तो किया, परन्तु उसे रोकने का जो यत्न किया। वह यह था कि ईसाइयत के कीटाणुओं से युक्त जल को कुछ स्वादुरूप दे दिया। इस उपचार से रोग दूर होगा या नहीं कीटाणुओं से युक्त जल शरीर में प्रविष्ट होने से रुकेगा या नहीं इन प्रश्नों का उत्तर हम नहीं देंगे, क्योंकि इतिहास दे चुका है।

यही दशा थी जब महर्षि दयानन्द ने गुरु विरजानन्द से विदायगी ली। उन्होंने इस दशा के सुधार का क्या उद्योग किया, यह अगले परिच्छेदों का विषय है।

thearyasamaj.org

सुधार की प्रारम्भिक दशा

(ई० 1863 से 1866 तक)

यह समझना भूल है कि महर्षि दयानन्द ने गुरु के पास से आते ही सुधार का पूरा कार्यक्रम विस्तीर्ण कर दिया था। गुरु से विदा होने के समय महर्षि जी के पास ये वस्तुएं थीं- (1) उनके पास संस्कृत-व्याकरण और दर्शनों का पाण्डित्य था; (2) अखण्ड ब्रह्मचर्य, प्रतिभा, उत्साह और व्याख्यान-शक्ति के गुण थे; (3) विद्वानों, साधुओं और पन्थाइयों की दशा देखकर यह निश्चय हो चुका था कि धर्म की दशा बिगड़ी हुई है। सुधार करने और विशुद्ध धर्म का प्रचार करने की अभिलाषा विद्यमान थी। एक सुधारक में जिन गुणों की बीजरूप से आवश्यकता होती है, वे महर्षि दयानन्द में विद्यमान थे। साथ ही यह भी निश्चित है कि सुधार कार्य के यौवन में महर्षि दयानन्द के शस्त्रागार में जो-जो साधन सन्नद्ध हो गए थे, अभी उनमें से कुछेक का विकास होना बाकी था- (1) अभी महर्षि जी को वेद पूर्णतः प्राप्त नहीं हुए थे। वेदों की पुस्तकों तक की खोज अभी शेष थी; उनकी व्याख्या या उनमें एकान्त भावना की अभी चर्चा तक नहीं थी; (2) संसार का विस्तृत ज्ञान संसार में भ्रमण करने पर ही प्राप्त होता है। अभी तक गृहस्थों और पुजारियों की सृष्टि में अधिक प्रवेश का अवसर न मिलने से रोग का पूरा-पूरा ज्ञान भी नहीं हुआ था; (3) रोग का ज्ञान होने पर भी सुधाररूपी दवा का ठीक प्रयोग तभी हो सकता है, जब वैद्य भी कुछ परीक्षण कर ले। वैद्य पहले एक दवा का प्रयोग करता है, फिर उसके फल यदि सन्तोषदायक हो तो उसी को जारी रखता है, अन्यथा बदल देता है। चतुर-से-चतुर वैद्य भी ठीक परीक्षण करके ही ठीक औषध पर पहुंचता है।

पहले तीन साल तक महर्षि दयानन्द ने जो सुधार का कार्य किया, वह एक प्रकार से परीक्षणात्मक था। वह उस सर्वतोगामी सुधार का प्रारम्भिक पड़ाव था, जो कुछ वर्ष पीछे भारत के विशाल कार्य को प्रकम्पित कर देनेवाला था। हम इस प्रारम्भिक कार्य में भी उन सब गुणों को बीजरूप में पाते हैं, जो बाद में वृक्षरूप में परिणत होकर सफलता के साधन हुए; परन्तु बाद में सुधार के कार्यक्रम में जो पूर्णता आ गई थी वह अभी नहीं दिखाई देती। सुधाररूपी चित्र की बाह्य रेखाएं तैयार थीं, परन्तु उसमें रंग और छाया का स्थान खाली था, जिसे भरने के लिए समय और अनुभव की आवश्यकता थी।

इन प्रारम्भिक तीन सालों में महर्षि जी ने जो सुधार उपस्थित किये, उनमें से और मुख्य स्थान मूर्ति पूजा के खण्डन का है। मूर्ति-पूजा में उनका विश्वास उसी क्षण से हिल चुका था, जिस क्षण उन्होंने शिवरात्रि की अंधियारी में शिवलिंग के ऊपर से चूहे को चावल उठाते हुए देखा था। उस समय जो अश्रद्धा उत्पन्न हुई, वह सत्संग, विद्याभ्यास और विचार से विरोधी विश्वास के रूप में परिणत हो गई। मूर्ति-पूजा को भ्रमात्मक मानकर परमात्मा के निराकार निर्दोष अद्वितीय स्वरूप का प्रतिपादन करना महर्षि दयानन्द का प्रारम्भ से ही लक्ष्य था। सुधारकों की कसौटी ईश्वर-सम्बन्धी विश्वास है। कोई सुधारक या धर्मसंस्थापक उपास्यदेव का जिस स्वरूप में प्रतिपादन करता है, उसी से उसकी ऊंच-नीच को परखा जाता है। ईश्वर-स्वरूप सम्बन्धी विचार धर्मो के नपैने हैं। कोई भी धर्मोपदेशक जनता में कोई भारी परिवर्तन नहीं उत्पन्न कर सकता, जब तक वह उनके मूल धार्मिक विचारों को नए रंग पर नहीं मोड़ देता। सुधारक यत्न करते हैं कि वे आम के पेड़ की पत्तियों में कलम लगाकर फल को मीठा बना सकेंगे, परन्तु निश्चय है कि वे निराश होंगे। ऐसे यत्न हुए और निष्फल हुए। जब तक तने में कलम नहीं लगती, तब तक फल मीठे नहीं हो सकते। महर्षि दयानन्द के हृदय में सुधारों की भावना का प्रारम्भ मूर्ति की सत्ता में अश्रद्धा होने से हुआ था। ईश्वर-सम्बन्धी अशुद्ध विचारों की जड़ में यह पहला कुठारपात था। ज्यों-ज्यों विद्या की वृद्धि होती गई, ज्ञान के चक्षु खुलते गए, सद्गुरुओं से उपदेश सुनने का अवसर मिलता गया, त्यों-त्यों वही प्रारम्भिक भावना अधिकाधिक पुष्ट होती गई।

विद्याभ्यास समाप्त करने के अनन्तर महर्षि दयानन्द ने जो पहला सन्देश जनता को सुनाया, वह निराकार ईश्वर की उपासना का था। मथुरा से आप सीधे आगरा गए और यमुना के किनारे भैरव के पास लाला गल्लामल रूपचन्द के बगीचे में ठहरे। वहां अन्य सदुपदेशों के साथ-साथ मूर्ति पूजन का खण्डन बराबर जारी रहता था। महर्षि जी ने वहां पंचदशी की कथा प्रारम्भ की। उसकी 16वीं कारिका का उत्तरार्द्ध यह है- **मायां बिम्बो वशीकृत्य तां स्यात्सर्वज्ञ ईश्वरः** माया में चिदात्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह माया को वश में कर लेता है और ईश्वर कहाता है। कहां निराकार ब्रह्म और कहां उसका प्रतिबिम्ब पड़ना! ईश्वर प्रतिबिम्बमात्र है-तत्त्व नहीं। जिस महर्षि दयानन्द ने वेदों में **अकायमव्रणमस्नाविरं** इत्यादि शब्दों से विशेषित ब्रह्म का अध्ययन किया था, और ब्रह्म तथा ईश्वर एक ही चिदात्मा के नाम हैं- यह निर्णय किया था, उसे पंचदशी के ऐसे लेखों ने धक्का दिया। महर्षि दयानन्द ने उस समय से पंचदशी और अद्वैतवाद के अन्य ग्रन्थों को त्याज्यों की श्रेणी में लिख लिया।

जीवन-चरितों के लेखकों ने लिखा है कि इन पहले तीन सालों में महर्षि दयानन्द वैष्णव मत का खण्डन करते थे और शैव मत का प्रतिपादन करते थे। उस समय (और अब भी यही दशा है) मथुरा के आसपास वैष्णव सम्प्रदायों का बड़ा जोर था। मथुरा कृष्ण जी की पुरी है। वह वैष्णवों का गढ़ हैं। वहां रहते हुए आपने उस अन्ध परम्परा को देखा जो कृष्ण के नाम पर चलाई गई थी। रामानुज और वल्लभ-सम्प्रदाय की लीलाओं के देखने का भी आपको अवसर मिला। भागवतकार ने योगिराज कृष्ण के चरित्र को कई अंशों में कैसा बिगाड़ा है- यह भी आपने भली प्रकार देखा। इस कारण उस समय महर्षि जी के हृदय में वैष्णवों के विश्वासों के प्रति बड़ा क्षोभ था। वृन्दावन की लीलाएं उन्हें प्रेरित करती थीं कि वह वैष्णव मत का खण्डन करें।

आगरा से धौलपुर ठहरते हुए महर्षि जी ग्वालियर पहुंचे। वहां सिन्धिया की ओर से भागवत की कथा का प्रबन्ध हो चुका था। एक विद्वान् साधु आया है, यह सुनकर महाराज ने महर्षि जी को भी निमन्त्रण भेज दिया। महर्षि जी ने कहला भेजा कि भागवत की कथा से दुःख के सिवा कुछ न मिलेगा; यदि सुख चाहते हो तो गायत्री का पुरश्चरण कराओ। राजा यह सुनकर केवल हंस दिया। भागवत की कथा प्रारम्भ हो गई। महर्षि जी ने संस्कृत में भागवत के खण्डन में व्याख्यान देने आरम्भ किये। महर्षि जी कुछ समय भ्रमण और उपदेश में बिताकर जयपुर पहुंचे और वहां चार मास तक रहे। यहां आप उपनिषदों की कथा करते थे, और मूर्ति-पूजा का खण्डन करते थे। भागवत के खण्डन में जयपुर में आपने एक विज्ञापन भी प्रकाशित किया, जिसमें बतलाया कि भागवत के कर्ता व्यासदेव नहीं, अपितु बोपदेव नाम का पण्डित है, जिसने श्रीकृष्ण के निष्कलंक चरित को कलंकित कर दिया है। पुष्कर के मेले में पहुंचकर महर्षि जी ने रामानुज सम्प्रदाय का खूब खण्डन किया और कण्ठियां भी तुड़वाई। इस प्रकार स्वामी जी मूर्ति पूजा और अन्य सब कुरीतियों के विरुद्ध जो भयंकर तूफान खड़ा करने वाले थे, उसकी पहली चोटें वैष्णवों पर पड़ीं। प्रतीत होता है कि वैष्णवों के विरोध में प्रारम्भिक काल में वह कभी-कभी शैव मत का पक्ष ले लिया करते थे। उसके विषय में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। प्रथम तो यह कि अभी तक महर्षि जी का सुधार का पूरा प्रोग्राम बना नहीं था- बन रहा था। दूसरी यह बात कि स्वामी जी कहा करते थे कि शिव परमात्मा का नाम है, पार्वती के पति को मैं नहीं मानता।'

आपको गोरक्षा की प्रारम्भ से ही धुन थी। 1866 ई० के मई मास में महर्षि जी अजमेर पहुंचे, और बंसीलाल जी रिश्तेदार के यहां ठहरे। यहां आप

मेजर ए०जी० डेविडसन कमिश्नर, और कर्नल ब्रुक असिस्टेंट कमिश्नर से मिले और उनके सम्मुख गोरक्षा का प्रश्न रखा। महर्षि जी ने उन्हें समझाया कि गौओं की हत्या बन्द करने से राजा और प्रजा दोनों का लाभ है। सरकारी अफसर तो सरकारी अफसर ही ठहरे। असिस्टेंट कमिश्नर साहब ने महर्षि जी को लाट साहब के नाम एक चिट्ठी लिख दी और कह दिया, आप लाट साहब से अवश्य मिलें। जिस साहब को आप मेरी चिट्ठी दिखाएंगे, वह आपसे अवश्य मिलेगा। सरकारी अफसर का मीठा इन्कार महर्षि जी ने शान्ति से अंगीकार कर लिया। यह महर्षि जी के हृदय की शुद्धता और सादगी का सबूत है।

प्रारम्भ से अपने विचारों को प्रकट करने के लिए महर्षि जी तीन उपाय काम में लाते थे। व्याख्यान देते थे, विज्ञापन निकालते थे और शास्त्रार्थ के लिए ललकारते थे। व्याख्यान तो सभी स्थानों पर देते थे; जयपुर आदि में लिखित विज्ञापन भी प्रकाशित किए। पहले-पहल आपने ग्वालियर में भागवत के विषय में वैष्णव पण्डितों को चैलेंज दिया। परन्तु सब पौराणिक पण्डित इधर-उधर खिसक गए, कोई सामने नहीं आया। फिर जयपुर में महाराज के सामने व्यास बख्शीराम जी आदि से महर्षि जी का शास्त्रार्थ हुआ। इसमें भी पौराणिक पण्डित निरुत्तर हो गए। शास्त्रार्थों की बहुत धूम तो पुष्करराज में रही। यहां आप देर तक ब्रह्माजी के मन्दिर में निवास करते रहे। कभी पण्डों से, कभी ब्राह्मणों से और कभी संन्यासियों से शास्त्रार्थ की चर्चा चलती रहती थी। एक बार बहुत-से पण्डे लट्ठ लेकर महर्षि जी पर चढ़ आए। यों तो महर्षि जी अकेले ही पर्याप्त थे, परन्तु एक सहायक भी आ पहुंचा। ब्रह्मा जी के मन्दिर के पुजारी मानपुरी जी मोटा डण्डा लेकर पहुंच गए और पण्डों को भगा दिया।

अजमेर में लौटकर आपका पादरी रॉबिन्सन और पादरी शूलब्रेड से ईश्वर-जीव आदि विषयों पर 3 दिन तक शास्त्रार्थ होता रहा। पादरियों को निरुत्तर होना पड़ा। वह महर्षि जी के सुधरे हुए विचारों और वाक्चातुरी से इतने प्रसन्न हुए कि महर्षि जी को एक पत्र लिखकर दे दिया, जिसमें लिखा कि हमने जीवनभर में ऐसा संस्कृत का विद्वान् नहीं देखा। ऐसे मनुष्य संसार में कम होते हैं।

इस प्रकार तीनों उपाय, जिनसे एक प्रचारक को काम लेना चाहिए, प्रारम्भ से ही महर्षि दयानन्द ने अंगीकार कर लिये थे। आगे इन्हीं साधनों का विकास होता गया। यहां तक कि महर्षि जी वाणी, लेख और शास्त्रार्थ - इस तीन प्रकार की युद्ध-सामग्री के पूरे अधीश्वर हो गए।

सुधार की मध्यम दशा

1867 ईसवी के अप्रैल मास में हरिद्वार का कुम्भ था। देशभर के साधु-संन्यासी इस मेले में एकत्र होते हैं। हिन्दू जाति की भलाई और बुराई, सुन्दरता और कुरूपता दोनों का ही स्पष्ट रूप से दिग्दर्शन करना हो, तो दस-पांच दिन इस विख्यात समारोह की सैर कर लेना पर्याप्त है। हिन्दू जाति श्रद्धामयी है। उस श्रद्धा का कुम्भ के मेले में मानो समुद्र उमड़ पड़ता है। जहां एक ओर ऐसे बूढ़े पुरुष लाठियां टेककर स्टेशन से धर्मशाला की ओर जाते दिखाई देंगे, जिनकी कमर झुक गई है, दांत मुंह को छोड़ भागे हैं, एक पांव यमपुरी की देहलीज पर धरा जा चुका है, वहां दूसरी ओर दुधमुंहे बच्चे, धूप और प्यास का कष्ट सहन करती हुई असूर्यम्पश्या हिन्दू ललनाओं की गोद में रहकर भारत की माताओं के अतुल विश्वास और तप की सूचना देते हैं। गृहस्थ लोग लाखों की संख्या में एकत्र होकर साधु-सन्तों के दर्शन करते हैं, गंगा के विशुद्ध शीतल जल में स्नान करके अपने को धन्य मानते हैं और अब तक भी हिन्दूपन के जीवित होने की सूचना देते हैं। ऐसे ही मेले भारत की आर्यजाति की मौलिक एकता को सिद्ध करते हैं। भीड़ में दृष्टि उठाकर देखिये-कहीं अनघड़ पंजाबी साफा दिखाई देता है, तो कहीं लखनऊ के शौकीन की दुपल्ली टोपी में से घुंघराले बाल दृष्टिगोचर होते हैं। कहीं मद्रासी के नंगे सिर पर गोखुर से दुगुनी शिखा नजर आती है, तो कहीं नाजुक गुजराती नाटे शरीर के शिरोभाग पर लाल पगड़ी सुहाती है। सारांश यह कि भारतभर के हिन्दू निवासी एक डोरी में बंधे हुए हैं-कुम्भ के मेले पर अविश्वासी हृदय भी इस बात पर विश्वास किये बिना न रहेगा।

यह इस तस्वीर का उज्ज्वल पहलू है। अंधेरा पहलू भी कुछ कम गहरा नहीं है। छल-कपट-आलस्य तथा स्वार्थ के शरीर बिना ढूंढे ही मिल जाएंगे। भोगमय त्याग, दुराचारमय साधु-भाव और हृदय का विरोधी रूप आपको पग-पग पर दिखाई देगा। जिनके गृहस्थ नहीं हैं, उनके अन्तःपुर में पुत्र-कलत्रः, जिनकी आमदनी का कोई साधन नहीं है, उनके डेरों पर हाथी और घोड़े और जो त्यागी कहलाते हैं उनके सन्दूकों में लाखों के तोड़े-यह सब-कुछ बिना विशेष यत्न के ही दीख जाएगा। सरलहृदय भक्त और भक्तिनों के विश्वास का घात करनेवाले भगवा वेशधारी मठेश्वर भिन्न-भिन्न उपायों

से अपने इन्द्रिय-सुख की साधना में मग्न दिखाई देते हैं। जिसे हिन्दू धर्म की गिरी हुई दशा देखनी हो, वह आंखें खोलकर एक बार हरिद्वार के कुम्भ की सैर कर आवे। जहां एक ओर कुम्भ पर एकत्रित हुआ जन-समूह देशभर के हिन्दुओं की मौलिक एकता को सूचित करता है, वहां साथ ही वह हिन्दुओं की नासमझी और अन्धी श्रद्धा में एकता को भी सूचित करता है।

महर्षि दयानन्द कुम्भ स्नान से एक मास पूर्व ही हरिद्वार पहुंच गए और उन्होंने सप्तस्रोत के पास गंगा की रेती में कुछ छप्पर डालकर मध्य में पाखण्ड-खण्डनी झण्डी गाड़ दी। सप्तस्रोत में खड़े हुए युवा सुधारक के सामने जो परस्पर विरोध उपस्थित हुआ होगा, उसकी कल्पना की जा सकती है। एक ओर संसार में अनूठे हिमालय और भागीरथी का प्राकृतिक चित्र, दूसरी ओर अज्ञान और छल के मानुषिक चमत्कार-क्या यह आश्चर्य और खेद उत्पन्न करनेवाला दृश्य नहीं है? सप्तस्रोत पर खड़े होकर जरा उत्तर की ओर दृष्टि उठाइए। पर्वत के पीछे पर्वत, जंगल के ऊपर जंगल, यही क्रम बराबर चला गया है। यहां तक कि हिमालय की गगनभेदी चोटियां चांदी के सदृश चमकते हुए बर्फ के मुकुट में अन्तर्धान हो गई। इस चांदी का पिघला हुआ प्रवाह घाटियों, कन्दराओं और तलहटियों से होकर हरिद्वार के पास से गुजरता है। जल क्या है, नील मणियों की छवि से प्रतिबिम्बित शुद्धतम अमृत है, जिसकी शीतलता सोने में सुगन्ध के समान है। एक ओर यह मन और तन को प्रसन्न और उन्नत करनेवाला दृश्य ! दूसरी ओर स्वार्थ, अज्ञान और दम्भ की लीला से बिगड़ी हुई मनुष्य-प्रकृति ! जिसे परमात्मा ने इतना सुन्दर बनाया है, उसे मनुष्य ने कितना बिगाड़ दिया है! जिसे मनुष्य नहीं बिगाड़ सका, वही सुन्दर है। ईश्वरीय सुन्दरता और मानवीय नीचता के दृश्य देखकर यदि युवक महर्षि दयानन्द के हृदय में एक उग्र ज्वाला न भड़क उठती तो नि:सन्देह वह पाषाणमय सिद्ध होता।

महर्षि दयानन्द ने मेले पर एकत्र हुए हिन्दू-समाज को देखा, और सम्पूर्ण समाज को एक ही बीमारी का शिकार पाया। क्या शैव, क्या वैष्णव, क्या संन्यासी, क्या वैरागी, सब एक ही धुन में मस्त हैं, सब एक ही लीक के राही हैं। सुधार की प्रारम्भिक दशा में महर्षि जी ने शैवों को वैष्णवों से कुछ ऊंचा ठहराया था: कुम्भ पर देखा कि सब एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं। न वे पूरे ज्ञानी हैं और न ये अधिक अज्ञानी हैं। जो थोड़ा-सा साम्प्रदायिक भेद हृदय में विद्यमान था, गंगा के विमल जल से वह भी धुल गया।

कुम्भ के समारोह में शास्त्रपारंगत महर्षि दयानन्द की प्रसिद्धि शीघ्र ही

फैल गई। गृहस्थ और साधु लोग निडर सुधारक के तेजस्वी भाषण सुनने के लिए आने लगे। कई विद्वानों ने योग्यता की परीक्षा करके उत्सुकता को दूर किया। यहां पहले-पहल महर्षि दयानन्द जी की काशी के प्रसिद्ध विशुद्धानन्द जी से मुठभेड़ हुई। विवाद पुरुष सूक्त पर था। स्वामी विशुद्धानन्द जी ने **ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत** इत्यादि मन्त्र से ब्राह्मण आदि वर्णों की ब्रह्मा के मुख से उत्पत्ति बतलाई और महर्षि दयानन्द जी ने शब्दार्थ-बल से यह सिद्ध करने का यत्न किया कि इस मन्त्र में ब्राह्मण को मुख के समान कहा है, मुख से उत्पन्न नहीं कहा। काशी के दिग्गज पण्डित के साथ एक युवक साधु की ऐसी बढ़िया टक्कर का जनता पर अवश्य ही बड़ा प्रभाव हुआ होगा।

कुम्भ का मेला हो गया। इस मेले में महर्षि के डेरे पर कई साधु और शिष्य ठहरे हुए थे। सबके लिए भोजन आदि का वहीं प्रबन्ध था। उस समय की रीति के अनुसार एक संघ के मुखिया साधु को सब प्रकार की जिस सामग्री की आवश्यकता होती थी, महर्षि जी के पास भी इस समय तक वह विद्यमान थी। मठाधीशों और महन्तों की दुर्दशा देखकर महर्षि जी का विशुद्ध हृदय जल उठा। उन्हें अपनी थोड़ी-सी सामग्री भी बोझिल प्रतीत होने लगी। उनके हृदय ने कहा कि यदि त्यागियों की विलासिता का नाश करना है, तो पहले स्वयं सर्वत्यागी बनना होगा। धर्म की बिगड़ी हुई दशा का अनुभव करके उन्हें अपने शरीर पर धारण करने के थोड़े-से कपड़े भी बहुत प्रतीत होने लगे। साधु की संक्षिप्त सामग्री भी कैदखाने की जंजीर प्रतीत होने लगी। गृह त्यागी महर्षि दयानन्द ने सर्वत्याग करने का निश्चय कर लिया।

डेरे पर जो कुछ भी था, भिखारियों को बांट दिया गया। महर्षि दयानन्द ने एक कौपीन रख ली, शेष सब सामग्री दरिद्रों में वितीर्ण कर दी। मलमल का थान और महाभाष्य का ग्रन्थ गुरु जी की सेवा में मथुरा भेज दिया। इस प्रकार सांसारिक वस्तुओं के इस हल्के से बन्धन को काटकर सर्वत्यागी स्वतन्त्र महर्षि दयानन्द मनुष्यजाति के बन्धनों को काटने के लिए सन्नद्ध हुआ। गंगा के पार, चण्डी के पर्वत के नीचे रेतीले किनारे पर कुछ समय तक तपस्या करके उन्होंने अपने-आपको उस महायुद्ध के लिए और भी अधिक तैयार किया, जिसकी ओर भगवान् की इच्छा उन्हें खींचे ले जा रही थी।

यहां से सुधार की दूसरी दिशा का आरम्भ होता है। सुधारक की दृष्टि अधिक विस्तृत हो गई है, रहे सहे रूढ़ि के बन्धन टूट गए हैं और निसर्ग से ही उज्ज्वल प्रतिभा वास्तविक संसार की घटनाओं से रगड़ खाकर और भी अधिक उज्ज्वल हो उठी है।

गंगा-तट पर सिंहनाद

(सन् 1867 से 1869 के सितम्बर मास तक)

त्यागी महर्षि दयानन्द हिन्दू-जाति में फैली हुई कुरीतियों का नाश करने के लिए कटिबद्ध होकर गंगा-तट पर भ्रमण करने लगे। सुधार की पहली दशा में जो दृष्टि सम्प्रदाय की रेखाओं से परिमित थी, वह इस दूसरी दशा में सम्पूर्ण आर्य (हिन्दू) जाति तक विस्तृत हो गई। इस समय महर्षि दयानन्द के प्रोग्राम में सम्पूर्ण आर्यजाति के रोगों को नष्ट करना और धर्म के स्वरूप को प्रकाशित करना था। महर्षि जहां कहीं जाते थे, निम्नलिखित आठ गप्पों का खण्डन करते थे। यह ध्यान में रखना चाहिए कि इस समय महर्षि जी प्रायः संस्कृत में ही व्याख्यान देते थे। गप्पें ये हैं- (1) अठारह पुराण; (2) मूर्ति-पूजा; (3) शैव, शाक्त, रामानुज आदि सम्प्रदाय; (4) तन्त्र-ग्रन्थ, वाम मार्ग आदि; (5) भंग, शराब आदि सब नशे की चीजें; (6) पर-स्त्री गमन; (7) चोरी; (8) छल, अभिमान, झूठ आदि। वह इन आठ गप्पों का खण्डन करते थे और यह उपदेश देते थे कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य की एक ही गायत्री है। इन तीनों ही वर्णों को गायत्री के पाठ का समान अधिकार है और उनमें से कोई भी वर्ण ऐसा नहीं जो यज्ञोपवीत का अधिकारी न हो।

इस समय के कार्यक्रम पर ध्यान देने से निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं- (1) इस समय महर्षि जी का कार्यक्रम खण्डनात्मक था। आर्यजाति की दुर्दशा देखकर महर्षि जी का हृदय रो रहा था। उनका परोपकारी हृदय अपने सजातीयों की दशा देखकर शान्त नहीं रह सकता था। दुःख का मूल बुराइयों में था, इस कारण आपने बुराइयों को तर्क और ज्ञान के दावानल से जलाकर राख कर देने का निश्चय किया। आपके जीवन का वह खण्डन-युग कहा जा सकता है।

(2) ऊपर दिये हुए कार्यक्रम को देखने से यह भी स्पष्ट होगा कि स्वामी जी की दृष्टि जहां सम्प्रदायों की सीमा से बाहर जा चुकी थी, वहां आर्यजाति की सीमाओं का उल्लंघन नहीं कर सकी थी। इसका कारण यह नहीं था कि संसार मात्र के लिए उनके हृदय में स्नेह का भाव नहीं था या वह केवल आर्यजाति को ही धर्म की अधिकारिणी समझते थे। इसका मुख्य कारण यह था कि किसी भी सुधारक को लीजिए, वह सार्वभौम सिद्धान्तों का प्रचारक होता हुआ भी अपने वातावरण के अन्दर ही रह सकता है। ईसा को एक सार्वभौम सुधारक कहा जा सकता है; परन्तु बाइबिल में भी यहूदियों के पादरियों के ही दुर्व्यवहारों का खण्डन है, भारतवर्ष के ब्राह्मणों या बौद्धों में प्रचलित रीतियों का खण्डन नहीं। चाहे मनुष्य कितना ही बड़ा हो, वह सार्वभौम सिद्धान्तों का प्रचार अपने

दृष्टि-क्षेत्र में आए हुए विषय की अपेक्षा से ही कर सकता है। उसकी बुद्धि वहीं तक फैल सकती है, जहां तक मनुष्य की बुद्धि का फैलना सम्भव है। इस समय तक महर्षि जी के दृष्टि क्षेत्र में आर्यजाति की आन्तरिक दशा ही आई थी। सार्वभौम सिद्धान्तों का प्रयोग करके महर्षि जी ने उस बिगड़ी हुई दशा के कारणों पर विचार किया, उसका अनुसंधान किया। जो उपाय उन्हें उचित प्रतीत हुआ, उसके प्रयोग का यत्न किया। वह इस समय प्रधानतया खण्डनात्मक था।

मात्र कौपीनधारी महर्षि दयानन्द हरिद्वार से ऋषिकेश और लंढौरा होते हुए कर्णवास पहुंचे। हरिद्वार के कुम्भ पर्व पर प्राप्त किया हुआ पाणि डत्य का यश महर्षि जी के आगे-आगे जाता था। कुम्भ पर प्रायः सारे देश के साधु और यात्री एकत्र होते हैं। उन लोगों ने युवा संन्यासी के तेजस्वी भाषणों को और उनकी ख्याति को सुना था। वे लोग महर्षि जी के यश को उनके पहुंचने से पूर्व ही भिन्न-भिन्न स्थानों पर पहुंचा चुके थे। जहां महर्षि जी जाते, शीघ्र ही चारों ओर धूम मच जाती कि एक त्यागी संन्यासी आए हैं, जो ध ारा-प्रवाह संस्कृत बोलते हैं. जिन्होंने हरिद्वार में स्वामी विशुद्धानन्द जी से टक्कर ली थी, जो पुराण और मूर्तिपूजा आदि का खण्डन करते हैं। महर्षि जी गंगा के तट पर रेती में विश्राम करते। रात को बालू का सिरहाना बनाकर सोए रहते। दिन में गप्पों का खण्डन करते और सदुपदेश देते। शीघ्र ही चारों ओर चर्चा फैल गई। गृहस्थ लोग महर्षि जी के उपदेशों को सुनते, पहले-पहले आश्चर्यान्वित होते और फिर सन्देह करने लगते। सन्देह-निवृत्ति के लिए अपने गुरु ब्राह्मणों के पास जाते। वहां महर्षि दयानन्द के लिए गालियां तो मिलतीं, परन्तु सन्देह का समाधान न मिलता। पण्डित लोग महर्षि जी के सम्मुख आकर प्रश्नोत्तर करने का साहस न करते ।

अनूपशहर में पं० अम्बादत्त वैद्य और पं० हीरावल्लभ पर्वती स्वामी जी से शास्त्रार्थ करने आए। शास्त्रार्थ का उद्देश्य मूर्ति पूजा का मण्डन करना था, परन्तु फल उल्टा निकला। पं० अम्बादत्त ने स्वयं निरुत्तर होकर एक अन्य पण्डित की ओर निर्देश कर दिया और पर्वती जी ने पराजित होकर अपनी पहले की हुई प्रतिज्ञा के अनुसार सामने रखी हुई शालिग्राम की मूर्ति को गंगा में प्रवाहित कर दिया। फिर क्या था प्रजा ने मूर्तियां गंगा-प्रवाह के अर्पण कर दीं, कंठियां तोड़ डालीं, मानो अज्ञान को बहा दिया और बन्धनों को काट डाला। क्षत्रियों और वैश्यों के समूह आकर महर्षि जी से गायत्री और यज्ञोपवीत का प्रसाद लेने लगे। गंगा-तट पर अखण्ड यज्ञ होने लगा और सदियों से अधिकार-वंचित भारतीय प्रजा अपने धार्मिक अधिकारों को प्राप्त करके महर्षि दयानन्द का जय-जयकार करने लगी।

कुछ दिन तक इसी प्रकार भ्रमण करके महर्षि जी 20 मई सन् 1868 के दिन फिर कर्णवास आए और अपनी कुटिया में आसन जमाया। महर्षि जी अत्यन्त

निर्भय थे। यदि वह निर्भय न होते तो सुधार के काम में हाथ ही न डालते। सुधार का कार्य शेरों का है, गीदड़ों का नहीं। जो मनुष्य लोक-निंदा से, किसी पागल के आक्रमण से या किसी शक्तिशाली के शस्त्र से डरता है, वह सदियों से जमी हुई कुरीतिरूप काई को उखाड़ने का प्रयत्न नहीं कर सकता। कुरीति और रूढ़ि के कंटीले जंगलों को तर्क और सुबुद्धि के कुठार से वही काट सकता है जिसके हृदय में वाणी या बाण का भय नहीं है। महर्षि दयानन्द ने सदियों से प्रचचिल अन्धविश्वासों और रूढ़ियों के खण्डन का बीड़ा उठाया था। उन्होंने कुछेक महन्तों और पुरोहितों और टीकाधारियों द्वारा कुचले हुए जनता के अधि कारों को फिर से दिलाने और अधिकारियों को सौंपने का संकल्प किया था। यदि महर्षि शेर न होता, तो भारतभर के सम्प्रदायाचायों को न ललकार सकता।

कर्णवास में महर्षि जी की निर्भयता का एक दृष्टान्त घटित हुआ। बरौठ जनपद-अलीगढ़ के रईस राव कर्णसिंह गंगा स्नान के लिए कर्णवास आए। वह वृन्दावन के वैष्णवाचार्य रंगाचार्य के शिष्य थे, और तिलक छाप लगाते थे। स्वामी जी की प्रसिद्धि सुनकर वह उनके स्थान पर पहुंचे। कर्णसिंह की प्रकृति बहुत उग्र थी। उसने सुना था कि महर्षि जी तिलक छाप का खण्डन करते हैं, इसलिए पहले से ही उसके क्रोध का पारा चढ़ा हुआ था। महर्षि जी ने आदरपूर्वक पास के आसन पर बैठने के लिए कहा। कर्णसिंह ने उत्तर दिया कि हम वहीं बैठेंगे, जहां तुम बैठे हो। इस पर महर्षि जी ने जिस शीतलपाटी पर वह बैठे थे, उसका कुछ भाग खाली कर दिया। यहां तो झगड़ा न बढ़ा। झगड़ा पैदा करने पर तुला हुआ कर्णसिंह निराश हुआ, तब नया ढंग प्रारम्भ हुआ। राव साहब बोले कि तुम गंगा जी को नहीं मानते ? महर्षि जी ने कहा कि जितनी गंगा जी हैं उतनी मानते हैं।'

कर्णसिंह- 'कितनी?'

महर्षि जी- 'हम लोगों की गंगा जी तो कमण्डलु ही हैं।'

इस पर कर्णसिंह ने गंगास्तुति पर कुछ श्लोक पढ़े।

महर्षि जी- 'यह सब तुम्हारी गप्प है। वह केवल पीने का पानी है, उससे मोक्ष नहीं हो सकता, मोक्ष तो केवल कर्मों से होता है। तुमको पोपों ने बहकाया है। फिर महर्षि जी ने उसके माथे पर तिलक छाप देखकर कहा-तुमने क्षत्रिय होकर मस्तक पर यह भिखारियों का चिह्न क्यों धारण किया?'

कर्णसिंह- 'हमारे स्वामी के सामने आपसे बातचीत भी न होगी, तुम उनके सामने कीड़े के तुल्य हो, तुझसे उनके जूते उठाते हैं।'

महर्षि जी ने हंसकर उत्तर दिया- 'अपने गुरु को शास्त्रार्थ के लिए बुलाओ, यदि उनमें आने की सामर्थ्य न हो तो हम वहां चलते हैं।'

इस पर क्रोध में आकर कर्णसिंह बेतुकी कहने लगा और महर्षि जी

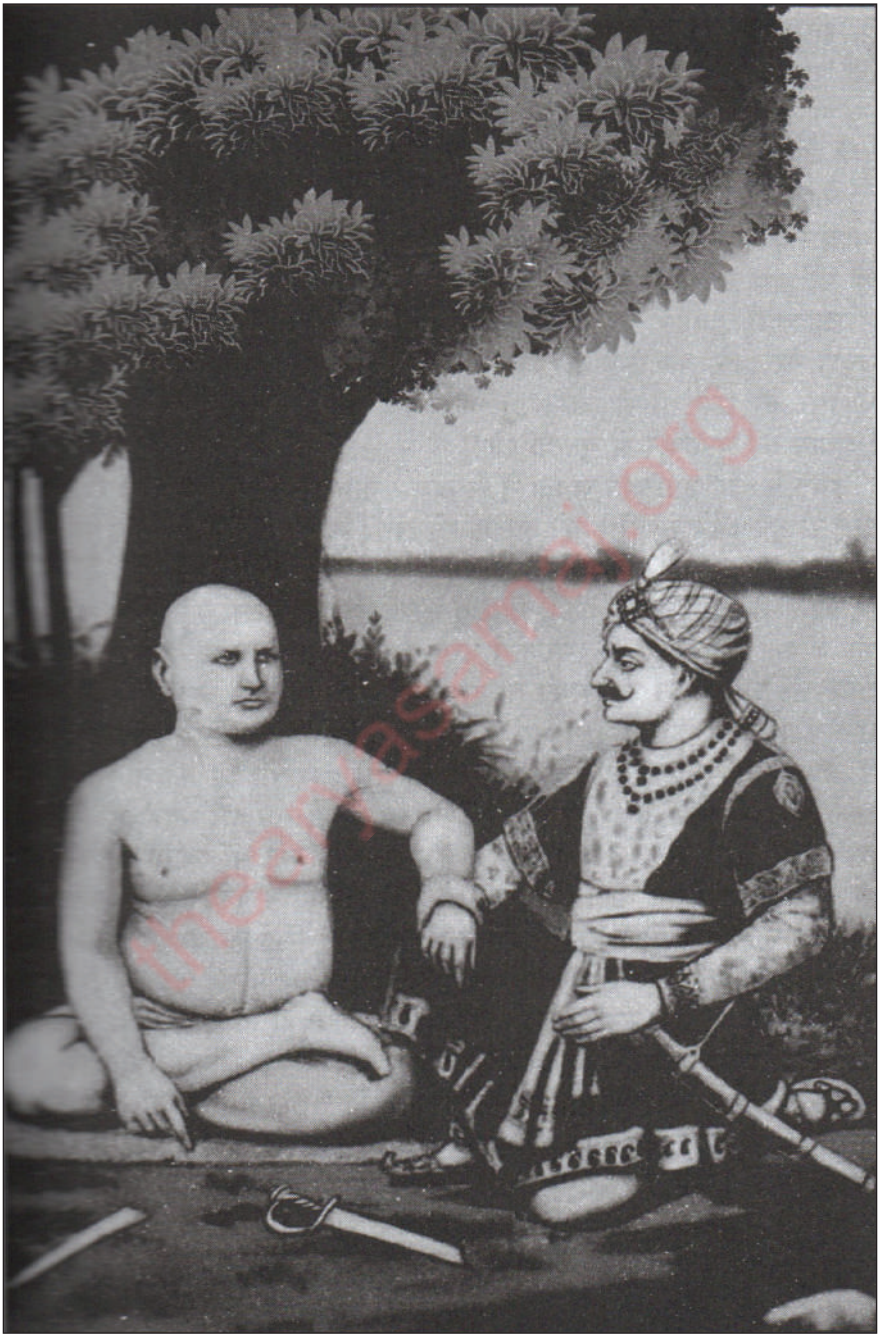

राव कर्णसिंह का महर्षि जी पर तलवार का वार

को धमकाने लगा। धमकी में आनेवाले व्यक्ति दूसरे ही होते हैं। महर्षि जी ने धमकी के उत्तर में चक्रांकित सम्प्रदाय का बड़े बल से खण्डन किया और अन्त में कहा कि तुम कैसे क्षत्रिय हो जो रामलीला में लौंडों का स्वांग भरवा, महापुरुषों की नकल उतरवा उनको नचवाते हो? अगर तुम्हारी बहन-बेटी को कोई नचवावे तो तुम्हें कैसा बुरा लगे?'

यह सुनकर कर्णसिंह की आंखें लाल हो गईं, नथुने फड़कने लगे और हाथ तलवार की मूठ पर पहुंच गया। कर्णसिंह का एक पहलवान आगे बढ़कर महर्षि जी पर हाथ डालने लगा।

ब्रह्मचारी महर्षि दयानन्द ने एक झटके से पहलवान को दूर फेंक दिया और सिंह के सदृश गरजकर कर्णसिंह से कहा-'अरे धूर्त! यदि लड़ना है तो जयपुर और धौलपुर के राजाओं से लड़ो और यदि शास्त्रार्थ करना है तो अपने गुरु रंगाचार्य को वृन्दावन से बुलवा लो!'

इतने में वहां उपस्थित जनता में से ठाकुर कृष्णसिंह आदि राजपूत लट्ठ लेकर खड़े हो गए और कर्णसिंह को ललकारने लगे। कायर कर्णसिंह अपने पहलवानों को साथ लेकर वहां से चला गया।

बहुत-से लोगों ने महर्षि जी से प्रार्थना की कि इस घटना की सूचना पुलिस में की जाय। महर्षि जी ने स्मरणीय उत्तर दिया। आपने कहा, यदि वह अपने क्षत्रियत्व को पूरा न कर सका तो हम क्यों अपने संन्यास धर्म से पतित होवें? सन्तोष करना ही हमारा परम धर्म है। इसके पीछे भी कर्णसिंह कई नीच उपायों से अपना क्रोध शान्त करने का यत्न करता रहा। महर्षि जी को मारने के लिए उसने कुछ बदमाश भेजे। योगी की हुंकार सुन वे इस प्रकार बदहवास भागे कि गिरकर मरते-मरते बचे। कर्णसिंह ने कुछ वैरागियों को भी महर्षि जी को मारने के लिए तैयार करना चाहा, पर किसी की हिम्मत ही न पड़ी। आखिर बात बढ़ गई। महर्षि जी के भक्त राजपूतों ने लट्ठ लेकर कर्णसिंह के बंगले को घेर लिया और बाहर निकलकर लड़ने के लिए ललकारा। कर्णसिंह के श्वसुर ठाकुर मोहनसिंह ने भी उसे समझाया कि यदि खैर चाहते हो तो यहां से भाग जाओ। कायर कर्णसिंह दूसरे रोज कर्णवास से भाग गया, और घर जाकर पागल हो गया। मणि और कांच की प्रतिद्वन्द्विता में मणि ने मणिता प्रकट कर दी और कांच ने कांचता। शेर की खाल ओढ़कर सियार केसरी नहीं बन सकता; जो हृदय से शेर है वही असली शेर है। महर्षि दयानन्द हृदय के शेर थे।

कर्णवास से आसन उठा तो महर्षि दयानन्द चाशनी, ताहरपुर और अहार होते हुए अनूपशहर पहुंचे। जहां गए, वहां मूर्ति-पूजा, मृतक श्राद्ध और फलित ज्योतिष आदि का खण्डन किया।

अनूपशहर में महर्षि जी लगभग चार मास तक रहे। जिन लोगों ने उस समय

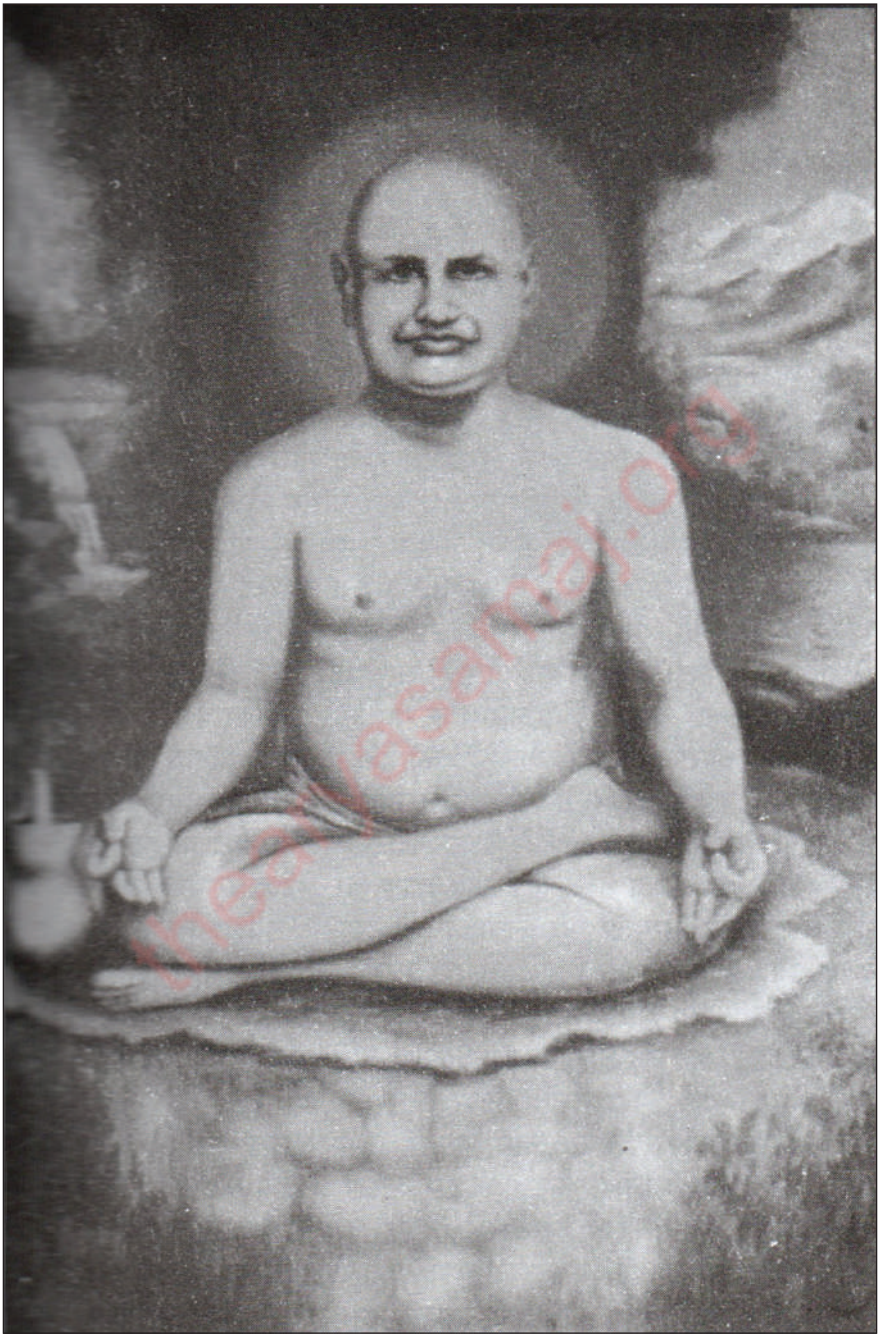

महर्षि जी समाधिस्थ एवं ध्यानावस्थित मुद्रा में

उन्हें देखा, वे देर तक भी उस मूर्ति को न भूल उके। लम्बा कद, सुडौल शरीर, चौड़ी छाती, सुन्दर और प्रभावशाली चेहरा, शेर की आंख को झपका देनेवाली आंखें, उन्नत और विशाल मस्तक- यह बनावट जिसने एक बार देख ली वह उसे कैसे भूल सकेगा? उस समय एक कौपीन ही महर्षि जी का परिच्छद था; सर्दी हो या गर्मी, आंधी हो या पानी, यही परिच्छद शरीर की रक्षा के लिए काफी था। प्रातः काल ब्राह्ममुहूर्त में उठकर नित्यकर्म से निवृत्त होकर महर्षि जी समाधि स्थ हो जाते और घण्टों तक ध्यानावस्थित रहते। उसके पश्चात् एकत्र हुई प्रजा को धर्म का उपदेश प्रतिदिन देते। जो भिक्षा आ जाती, उसी से निर्वाह कर लेते। उपदेश प्रतिदिन ही होता। पण्डित लोग अपने बुद्धिबल की परीक्षा के लिए आते। उनमें से कोई शहर से बाहर ही रुक जाते। जो शहर में आते वे सामने आकर शास्त्रार्थ करने की अपेक्षा दूर से गाली प्रहार को ही बहादुरी समझते। जो सामने आ जाते, वे प्रत्युत्पन्न-बुद्धि, युक्ति युक्त भाषण और ब्रह्मचर्य के ओज से प्रदीप्त आंखों के सामने या तो सिर झुकाते या शीघ्र ही कोई बहाना बनाकर सरकने का उपाय ढूंढते। पं० हीरावल्लभ और पंडित टीकाराम मूर्तिपूजक थे। कई बार महर्षि जी से भिड़े भी, परन्तु अन्त में शिष्य बन गए और मूर्तियों को गंगा में प्रवाहित कर दिया। उनकी देखादेखी अनेक गृहस्थों ने भी मूर्तिपूजा को त्यागकर पूजा की सामग्री भागीरथी के पवित्र प्रवाह के अर्पण कर दी।

मूर्तियों का जल-प्रवाह उन लोगों से न सहा गया, जिनकी उदरपूर्ति का साधन ही मूर्ति पूजा था। ब्राह्मण लोग नाराज हो गए और पराजित कायरों के हथियारों से कार्य लेना आरम्भ किया। महर्षि जी को एक ब्राह्मण ने पान में जहर दे दिया। स्वामी जी को पता चल गया और उन्होंने न्योली क्रिया द्वारा विष को शरीर से निकाल दिया। यह घटना वहां के तहसीलदार सैयद मुहम्मद को पता लग गई। वह स्वामी जी का बड़ा भक्त था। उसे ब्राह्मण की दुष्टता पर बड़ा क्रोध आया। ब्राह्मण को उसने गिरफ्तार कर लिया और यह जानने के लिए कि उसे क्या दण्ड दिया जाय, महर्षि जी के निकट आया। महर्षि जी उससे बोले तक नहीं। वह आश्चर्यान्वित हुआ और रुष्टता का कारण पूछने लगा। महर्षि जी ने उस समय जो उत्तर दिया, वह उनके सारे जीवन की चाबी है और प्रत्येक हृदय में अंकित करने योग्य सन्देश है। उत्तर निम्नलिखित था-

''मैं संसार को कैद कराने नहीं आया हूं वरन् कैद से छुड़ाने आया हूं। यदि वह अपनी दुष्टता को नहीं छोड़ता तो हम अपनी श्रेष्ठता को क्यों छोड़ें?''

महर्षि जी की आज्ञा से तहसीलदार ने उस ब्राह्मण को रिहा कर दिया। अनूपशहर से प्रस्थान कर महर्षि जी अतरौली, जलेसर व गढ़िया, सोरों, पीलीभीत, शहबाजपुर, ककोड़े घाट, नरोली, कायमगंज आदि में प्रचार करते हुए फर्रुखाबाद पहुंचे। मार्ग में कई स्थानों पर शास्त्रार्थ और विचार हुए।

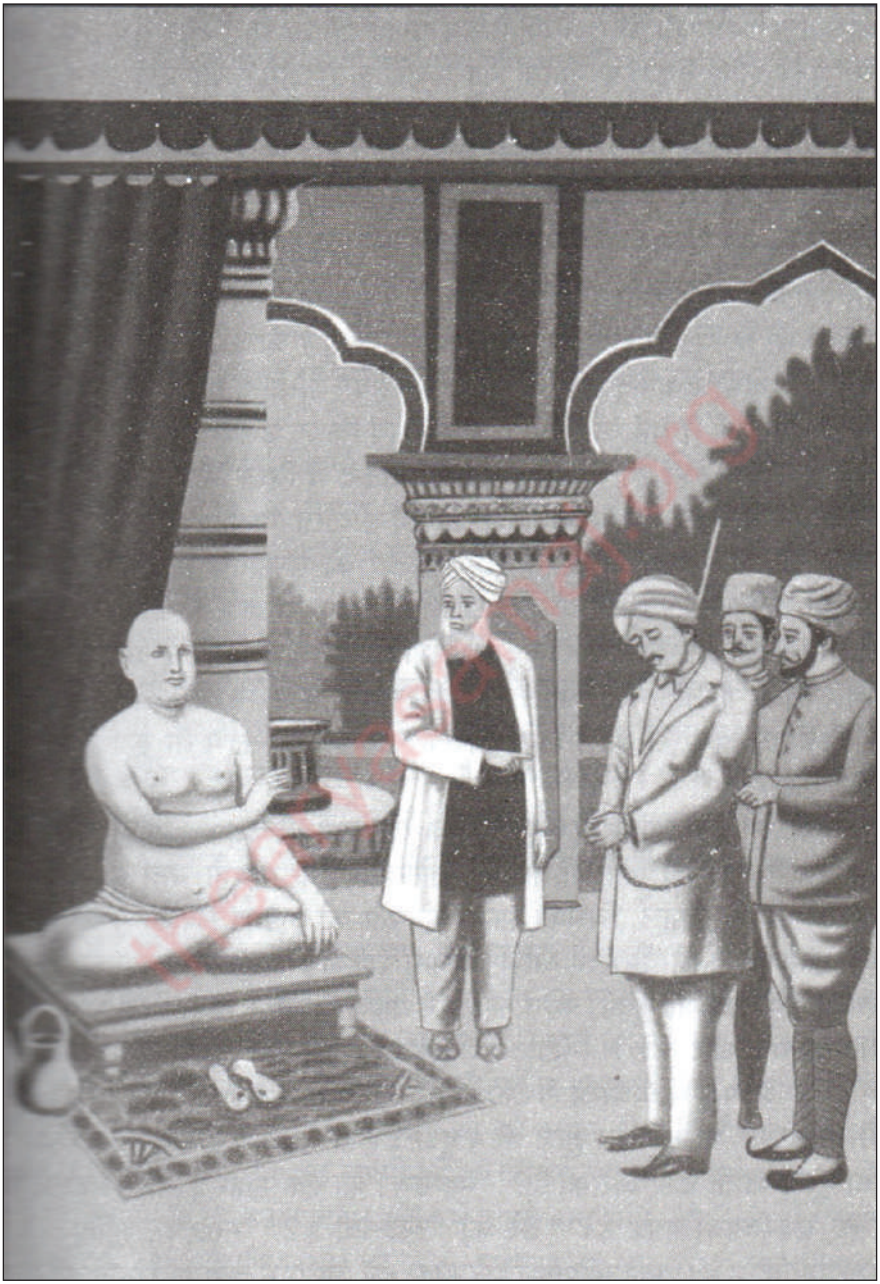

पान में विष देने वाले को यह कहकर छुड़ाना कि 'मैं संसार में कैद करवाने नहीं आया अपितु कैद से छुड़ाने आया हूं।'

प्रचार का अखण्ड क्रम जारी ही रहा। सोरों में पं० अंगद शास्त्री से शास्त्रार्थ हुआ। अंगद शास्त्री की इस प्रदेश में बड़ी मान्यता थी। वह उस घेरे के प्रधान मल्ल समझे जाते थे। अंगद शास्त्री ने देर तक शास्त्रार्थ करने के पीछे महर्षि जी के कथन की सत्यता स्वीकार की और अनुयायी बन गया। तब तो चारों ओर सुधार की बाढ़ आ गई। लोग धड़ाधड़ मूर्तियों का प्रवाह करने लगे। कण्ठियां टूटने लगी, भागवत के ग्रन्थ रद्दी की टोकरी में पहुंच गए और महर्षि जी का जयकार चारों ओर गूंजने लगा।

जब महर्षि जी शहबाजपुर में थे, तब उन्होंने विरजानन्द जी के देहावसान का समाचार सुना। महर्षि जी को बड़ा दुःख हुआ। वह अपने गुरु के बड़े भक्त और सच्चे शिष्य थे। उन्हें दण्डी जी के शिष्य होने का अभिमान था। समाचार सुनकर महर्षि जी के मुंह से हठात् ये शब्द निकले, **आज व्याकरण का सूर्य अस्त हो गया!** महर्षि दयानन्द का व्याकरण के सूर्य के प्रति श्रद्धा-भाव यथार्थ ही था। महर्षि जी ने धर्म के लिए जो बड़ा कार्य किया, उसके लिए दण्डी जी का श्रेय कुछ कम नहीं है। यह ठीक है कि महर्षि दयानन्द में विद्या और अनुभव की सब शक्तियां विद्यमान थीं; परन्तु बीज को सींचनेवाला माली विरजानन्द ही था। दण्डी जी के स्वभाव के विषय में कई प्रकार की सम्मतियां हो सकती हैं-वह आदर्श नहीं था; दण्डी जी के हृदय में सुधार का सारा क्रम भी निश्चित रूप से विद्यमान नहीं था; परन्तु उनका अगाध पाण्डित्य, आर्ष ग्रन्थों में अभिरुचि और रूढ़ि को न मानने की प्रवृत्ति- ये ऐसे गुण थे, जिन्होंने योग्य शिष्य के हृदय में विद्यमान बीज को भली प्रकार सींचकर हरे-भरे कल्पद्रुम के रूप में परिणत कर दिया।

फर्रुखाबाद में महर्षि जी बहुत दिनों तक रहे। वहां भी बड़े बल से कुरीतियों का खण्डन किया गया, और द्विजों को यज्ञोपवीत तथा गायत्री मन्त्र प्रदान किया गया। पण्डित गोपाल, जिसका साहस योग्यता की अपेक्षा सैकड़ों गुणा अधिक था, शास्त्रार्थ करने के लिए आया। बेचारा शास्त्रार्थ-गुरु से क्या टक्कर लेता? शास्त्रार्थ में पराजित हुआ, परन्तु साहस ने उसका साथ न छोड़ा। वह भागा हुआ बनारस गया और कुछ धन राशि दे दिलाकर सुरती और सुंघनी के उपासकों से मूर्तिपूजा के पक्ष में व्यवस्था ले आया। वह व्यवस्था फर्रुखाबाद में डंके की चोट में सुनाई गई, परन्तु असर कुछ भी न हुआ, होता भी कैसे? सब लोग व्यवस्था का मूल्य जानते थे- अरे का है? महाराज! यह एक मोहर है और हस्ताक्षरों के लिए एक व्यवस्थापत्र है। अरे का लिखलवा है? महाराज, मूर्तिपूजा का समर्थन किया है। महामहोपाध्याय ने मोहर को अण्टी में दबाया, सुंघनी की एक चुटकी नाक में दी और लाईं कहकर व्यवस्थापत्र मांग लिया। लिखने की सामग्री हस्ताक्षर करानेवाला साथ लाता था। उसने कलम महामहोपाध्याय जी के हाथ में पकड़ा

दी। अब देर क्या थी! कलम उठाई। पत्र पढ़ने की फुर्सत कहां? नीचे हस्ताक्षर कर दिये। प्रजा के धर्म का निर्णय हो गया। इससे पण्डित महाराजों को कोई मतलब नहीं कि व्यवस्था में क्या लिखा है।

व्यवस्था का भी कुछ प्रभाव न होता देख, ब्राह्मणों तथा तान्त्रिकों ने कानपुर से पण्डित हलधर ओझा को बुलाया। पण्डित हलधर ओझा व्याकरण के अच्छे पण्डित थे। उन्हें धर्म के विषय में कुछ अधिक ज्ञान नहीं था। शास्त्रार्थ का विषय और था, पर ओझा जी उसे व्याकरण में खींच ले गए। उन्हें यह ज्ञात न था कि महर्षि जी व्याकरण के भी अपूर्व पण्डित हैं। व्याकरण में भी पं० हलधर की हार हुई। उपस्थित पण्डितों ने इस बात को स्वीकार किया। तब तो महर्षि जी का प्रभाव और भी अधिक हो गया। फर्रुखाबाद के कई भक्त सेठों ने वेद-वेदांग की शिक्षा के लिए पाठशाला स्थापित करा दी। मूर्तिपूजा, मृतक श्राद्ध आदि से लोगों की श्रद्धा उड़ गई और गली-गली, कूचे कूचे में पाठशालाओं के बालक तक महर्षि जी से सुनी हुई युक्तियां दोहराकर ब्राह्मण गुरुओं का नाकों दम करने लगे।

फर्रुखाबाद से अनेक स्थानों पर भ्रमण करते हुए महर्षि दयानन्द कानपुर पहुंचे, और गंगा तट पर आसन जमाया। जैसे मधु की प्यासी मधुमक्खियां दूर-दूर से आकर फूल के इर्द-गिर्द घूमने लगती हैं, इसी प्रकार उस जागृति- काल की उतावली जनता धर्म की प्यास बुझाने के लिए विश्राम घाट की ओर उमड़ने लगी। पौराणिक मण्डल में हलचल मच गई। धनी साहूकारों ने बहुत सा धन व्यय करके पण्डितों का जमाव किया। फर्रुखाबाद की चोट से घायल पं० हलधर ओझा अपनी नष्ट हुई कीर्ति को फिर से स्थापित करने के लिए दल-बल सहित उपस्थित हो गए। बड़ा भारी जमाव हुआ। भैरव घाट मनुष्यों से भर गया। कानपुर के ज्वाइंट मजिस्ट्रेट मि० डब्ल्यू० थैन सभापति के आसन पर बिठाए गए। लगभग 50 हजार की भीड़भाड़ में महर्षि जी और पं० हलधर में शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ।

शास्त्रार्थ का विषय मूर्ति पूजा था। पं० हलधर ने महाभारत से कुछ श्लोक पढ़कर कहा कि भील ने द्रोण की मूर्ति बनाई थी। इस पर स्वामी जी ने उत्तर दिया कि भील कोई वेदज्ञ ऋषि नहीं था, वह एक अनपढ़ आदमी था, उसका कार्य सबके लिए प्रामाणिक नहीं हो सकता। इसी प्रकार शास्त्रार्थ जारी रहा। अन्त में सभापति को निश्चय हो गया कि महर्षि जी का कथन ठीक है और पं० हलधर केवल समय बिता रहे हैं। वह महर्षि जी की विजय की घोषणा करके सभा से उठ गए। सभापति के उठ जाने पर लोगों में हल्ला मच गया, और पौराणिक धर्म तथा पराजय का सूचक एक ही शब्द आकाश में गूंजने लगा। थोड़े दिनों पीछे मि० थैन ने एक लिखित चिट्ठी कुछ सज्जनों को दी जिसमें लिखा था कि ''शास्त्रार्थ के समय मैंने महर्षि दयानन्द फकीर के पक्ष में व्यवस्था दी थी; मुझे विश्वास है कि उनकी युक्तियां वेदानुकूल थीं।''

गढ़ से टक्कर

बनारस में राजा लाल माधोसिंह का आनन्द बाग प्रसिद्ध है। उस बाग में कार्तिक सुदी द्वादशी, सम्वत् 1926 के दिन बड़ी धूमधाम थी। कुछ दिन हुए, लंगोटबन्द संन्यासी इस बाग में आकर ठहरा था। विद्या की पुरी काशी के सभी प्रसिद्ध-प्रसिद्ध पण्डित मल्ल उस लंगोटबन्द के साथ अपनी बल-परीक्षा करने के लिए आने लगे हैं। 22 अक्तूबर 1869 ई० के दिन रामनगर से महर्षि दयानन्द बनारस में आकर उस उद्यान में ठहरे हैं। उनके आते ही सारे नगर में हलचल मच गई है। बुद्धि और धर्म में पूर्ण स्वतन्त्रता का माननेवाला सुधारक दयानन्द, अन्ध-विश्वास और रूढ़ि के गढ़ बनारस की दीवारों को सत्य की टक्कर से गिराकर चकनाचूर करने के लिए केवल एक परमात्मा को सहायक मानकर, युद्ध भूमि में उतर आया है। काशीपुरी बहुत प्राचीन काल से विद्या की खान समझी जाती है। उसके कोने-कोने में विद्यावारिधि, और गली-गली में महामहोपाध्याय रहते हैं। महर्षि दयानन्द हिन्दू धर्म की कुरीतियों का संहार करना चाहते थे। जब तक काशी अपराजिता थी, तब तक पौराणिक धर्म को भी हारा हुआ नहीं मान सकते थे। जो पौराणिक पण्डित निरुत्तर होता था, वह काशी की ओर भागता था। कोई टका सेर व्यवस्था ले आता था, कोई महर्षि विशुद्धानन्द के नाम की दुहाई देता और कोई पण्डित राजाराम शास्त्री का नाम लेकर धमकाना चाहता था। आश्रय-हीन अन्धकार का अन्तिम आश्रय बनारस ही दिखाई देता था। निर्भय वीर महर्षि दयानन्द ने गुफा में पहुंचकर शेर को ललकारने का निश्चय किया और माधो बाग में जाकर धर्म का झण्डा गाड़ दिया।

महर्षि दयानन्द ने काशी नरेश को कहला भेजा कि यदि सत्यासत्य का निर्णय करना चाहते हो तो पण्डितों को शास्त्रार्थ के लिए तैयार करो। काशी -नरेश ने पण्डितों को बुलाकर शास्त्रार्थ के लिए कहा। पण्डितों ने उत्तर दिया कि महर्षि दयानन्द वेद का पण्डित है और वेद की ही दुहाई देता है। हम लोगों को कुछ दिन वेदों में से प्रमाण खोजने के लिए मिलने चाहिए, पीछे हम शास्त्रार्थ कर सकेंगे। 15 दिन की मुहलत दे दी गई। पण्डित लोग खूब तैयारी करते रहे। शास्त्रार्थ के लिए कार्तिक सुदी द्वादशी का दिन निश्चित किया गया था। सभा के लिए माधो बाग ही उचित स्थान समझा गया, क्योंकि

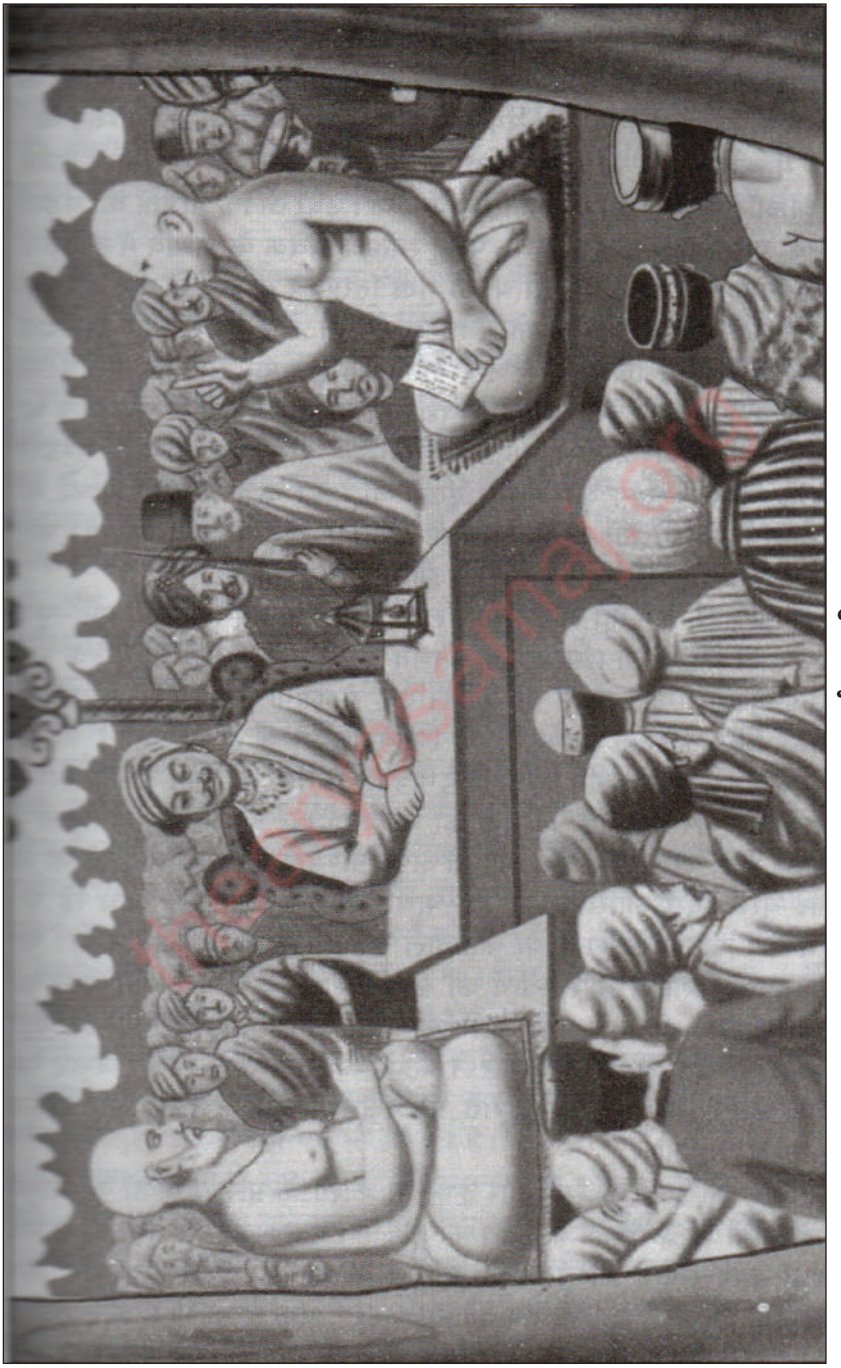

शास्त्रार्थ काशी

thearyasamaj.org

महर्षि दयानन्द ने संन्यासी धर्म के अनुसार दूसरे के स्थान पर जाना स्वीकार न किया। 15 दिन व्यतीत हो गए।

आज एक ओर माधो बाग में सभा का समारोह होने लगा और दूसरी ओर से पण्डितों को सभा-स्थान तक पहुंचाने के लिए काशी-नरेश के दरबार से पालकी, छत्र, चंवर आदि सामग्री भेजी जाने लगी। आज मानो काशी के पण्डितों की परीक्षा का दिन था। इस दिन की सफलता पर उनका भविष्य अवलम्बित था। प्रतिपक्ष में कौपीनधारी साधु था, विद्या ही जिसका शस्त्र था, सत्य ही जिसका किला था और परमात्मा ही जिसका सहायक था। उधर अनेक पंडितों की मंडली थी जिनके पास विद्या-खड्ग तो थी, परन्तु स्वतन्त्र विवेक के अभाव में रूढ़िरूपी जंगार से निकम्मी हो गई थी। सत्य का मुख हिरण्मय ढक्कन से बन्द हो चुका था। परमात्मा का स्थान एक ओर जड़ मूर्तियों ने और दूसरी ओर अन्नदाता काशी नरेश ने छीन लिया था। जहां कौपीनधारी अपने सहायक पर भरोसा करके, सत्य के गढ़ में डेरा जमाकर, विद्या की तलवार पकड़े निर्भीक बैठा था, वहां अपनी शक्तियों और सहायकों को कमजोर समझकर पण्डित-मण्डली कभी छत्र-चंवर के ढोंग का आसरा ढूंढती थी, और कभी सैकड़ों शिष्यों की पंक्तियां बांधकर समझती थी कि अब तो महर्षि दयानन्द अवश्य दहल जाएगा। परंतु यहां वह लौ न थी, जो हवा के जरा-से झोंके से बुझ जाती।

जो जनता माधो बाग की ओर उमड़ने लगी, उसमें निन्यानवे फीसदी मूर्ति-पूजा के माननेवाले थे। वे लोग सत्यासत्य-निर्णय देखने नहीं जा रहे थे, बल्कि माने हुए सनातन धर्म को जिताने जा रहे थे। उन्हें बतलाया गया था कि बनारस में एक बड़ा भारी नास्तिक आया है, जो विश्वनाथपुरी में ही विश्वनाथ जी को गालियां देता है। उसका दमन करना हिन्दूमात्र का कर्त्तव्य है। लोग अपनी-अपनी भावना के अनुसार एक बड़े नास्तिक की पराजय देखने जा रहे थे। जाने वालों में भले भी थे, और बुरे भी थे। भले आदमी अपने पण्डितों को आशीर्वाद देते जा रहे थे, और बुरे आदमी नास्तिक पर ईंट-पत्थर बरसाने के मन्सूबे बांध रहे थे। सभा मण्डप का प्रबन्ध शहर के कोतवाल रघुनाथ प्रसाद के आधीन था। वह बड़े सज्जन थे। शान्ति से शास्त्रार्थ का कार्य चलाने के लिए उन्होंने बैठने की ऐसी व्यवस्था की थी कि महर्षि जी के साथ एक समय में एक ही पण्डित बोल सके, और पण्डित लोग उन्हें घेरकर न बैठ सकें। तीन ऊंचे आसन जमाए गए थे-एक महर्षि जी के लिए, दूसरा प्रतिपक्षी पण्डित के लिए और तीसरा काशी नरेश के लिए। विरोधियों की इतनी संख्या!

और उनमें भी काशी के प्रसिद्ध गुण्डों की काफी संख्या महर्षि जी के भक्तों के हृदय कांपने लगे। एक भक्त ने महर्षि जी से भय की चर्चा की। महर्षि जी ने अपने स्वभाव के अनुसार ईश्वर-विश्वास और निर्भयता का उपदेश देकर सांत्वना देते हुए कहा, एक परमात्मा है और एक ही धर्म है। दूसरा कौन है, जिससे डरें? उन सबको आ जाने दो। जो कुछ होगा उसी समय देखा जाएगा। महर्षि जी के भक्त पण्डित जवाहरदास जी ने जैसा कुछ सन्देह प्रकट किया, वैसा ही उत्तर पाया। निर्भय, निष्कम्प, नि:शंक संन्यासी उमड़ते हुए विरोधी मेघ के कर के प्रहार को सहने के लिए तैयार होकर बैठा था और थोथी गरज पर मुस्करा रहा था। जो बहादुर, केसरी को उसकी मांद में जाकर ललकार सकता है, वह उसकी गर्जना को भी अक्षुब्ध चित्त से सुन सकता है।

पौराणिकों की अक्षौहिणी सेना आ पहुंची। रोब जमाने को काशी नरेश, बाल की खाल उधेड़ने को वृद्ध स्वामी विशुद्धानन्द, प्रसिद्ध बालशास्त्री और अन्य माधवाचार्य, वामनाचार्य, ताराचरण आदि विख्यात पंडित तथा हल्ला मचाने को काशी के विद्यार्थी और गुण्डे इस प्रकार झूमती-झामती और बेतहाशा जय-जयकारों से आकाश को गुंजाती हुई अंग-त्रय-सम्पन्न पौराणिक सेना माधो बाग में पहुंच गई। नियमहीन सेना के पहुंचते ही मण्डप का नियम टूट गया। कोतवाल का यत्न व्यर्थ हुआ। महर्षि जी को पण्डितों ने चारों ओर से घेर लिया। उनके पास किसी हितैषी को बैठने का अवसर न दिया गया। रास्ते रोक लिये गए, और अकेले दयानन्द को घेरकर पचास हजार विरोधी सनातन धर्म का जयकारा बोलने लगे।

शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। कहने को शास्त्रार्थ था, परन्तु वस्तुत: वर्षाऋतु के बढ़े हुए बीसियों प्रचण्ड नालों की चट्टान से टक्कर थी। हरेक पण्डित अपनी बल परीक्षा कर रहा था और चाहता था कि किसी प्रकार स्वामी जी निरुत्तर हो जाएं, परन्तु प्रत्युत्पन्नमति संन्यासी काबू नहीं आता था। बरसों अभ्यास और ब्रह्मचर्य पालन से संग्रह किये हुए निर्भयता, धैर्य और स्मृति आदि गुण इस समय उनके परम सहायक हुए। प्रश्नरूपी तीरों की अनवरत बौछार हो रही थी। साधन-सम्पन्न ब्रह्मचारी फेंके हुए तीरों को मार्ग में ही काटता जाता था और साथ ही अपने धनुष की करामात दिखा रहा था। उस लक्ष्यवेधी धनुष से फेंके हुए अमोघ बाण विरोधियों के कवच में छेद कर रहे थे।

पण्डित ताराचरण ने पूछा- आप मनुस्मृति को वेदमूलक कैसे मानते हैं? महर्षि जी ने उत्तर दिया-सामवेद के ब्राह्मण ने कहा है कि जो कुछ मनु ने वर्णन किया है वह औषधों का भी औषध है।'

ताराचरण जी चुप हो गए; स्वामी विशुद्धानन्द जी मदद के लिए पहुंचे। आप बोले- **रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्** इस वेदान्त-सूत्र को वेदमूलक सिद्ध करो।'

महर्षि जी ने उत्तर दिया- यह उपस्थित वाद के भीतर नहीं है।'

स्वामी विशुद्धानन्द जी- प्रकरण के बाहर है तो क्या हुआ ? यदि तुम्हें इसका समाधान आता है तो कह दो।'

महर्षि दयानन्द- इसका पूर्वापर-पाठ देखकर समाधान किया जा सकता है।'

स्वामी विशुद्धानन्द- यदि सब कुछ याद न था तो काशी में शास्त्रार्थ करने क्यों आए थे?

महर्षि दयानन्द- क्या तुम्हें सब कुछ कण्ठाग्र है?

'स्वामी विशुद्धानन्द- हां, हमें सब कुछ स्मरण है।'

यहां उल्टा वार प्रारम्भ हुआ। पेंच में आता-आता चतुर सिपाही निकल गया। महर्षि दयानन्द ने पूछा तब बताइये धर्म के लक्षण कितने हैं?'

स्वामी विशुद्धानन्द ने सर्वज्ञता का दावा तो किया, परन्तु उन्हें मनुस्मृति का धर्मलक्षण-सम्बन्धी धृतिक्षमा दमोस्तेयम् इत्यादि श्लोक याद नहीं था, वह निरुत्तर हो गए। महर्षि दयानन्द ने श्लोक पढ़ सुनाया। इस पर प्रसिद्ध धर्माचार्य पं० बाल शास्त्री जी मदद पर आ पहुंचे। आपने कहा कि हमने सम्पूर्ण धर्मशास्त्र का अध्ययन किया है, इस विषय में कुछ पूछना चाहते हो तो हमसे पूछिये। महर्षि दयानन्द ने पूछा- आप अधर्म के लक्षण बतलाइये।

बाल शास्त्री जी ने कभी सोचा भी न था कि कोई आदमी अधर्म के लक्षण भी पूछ सकता है। उन्हें निरुत्तर होना पड़ा।

इसी प्रकार प्रश्नोत्तर होते रहे। मूर्तिपूजा के सम्बन्ध में काशी के पण्डितों ने दो ही बातें पेश कीं। एक तो यह कि वेद में प्रतिमा शब्द आया है, वह मूर्ति का वाचक है; और दूसरा यह कि उद्बुध्यस्वाग्ने इत्यादि मंत्र में जो पूर्त शब्द आया है, वह मूर्तिपूजा का सूचक है। महर्षि जी ने दोनों का ही समाधान कर दिया। ईश्वर की प्रतिमा का वेद में स्पष्ट निषेध है, और पूर्त शब्द नदी-तड़ाग आदि का वाचक है। यह समाधान करके महर्षि जी बारम्बार यही पूछते रहे कि वेद में मूर्तिपूजा का विधान कहां है?'

हर तरह से लाचार पण्डित-मण्डली ने चालाकी की शरण ली। इस विषय पर शास्त्रार्थ करने से टलकर पण्डित लोग महर्षि जी को उलझाने की नीयत से पुराणों के विषय पर विवाद करने लगे, परन्तु शीघ्र ही अनुभव

करने लगे कि यह व्यूह भी अभेद्य नहीं है। महर्षि जी ने अवसर पाकर व्याकरण-सम्बन्धी प्रश्न पण्डितों के सामने रखा तो कोई भी सन्तोषजनक उत्तर न मिला। पण्डित लोग खिन्न और हताश होने लगे। तब माधवाचार्य जी आगे बढ़े और कोई दो पत्रे लाकर बीच में रखते हुए कहा कि यहां पर लिखा है कि यज्ञ की समाप्ति पर यजमान दसवें दिन पुराणों का पाठ-श्रवण करें, अब महर्षि जी बताइये कि पुराण किसका विशेषण है?

महर्षि जी- आप पाठ पढ़कर सुनाइये।'

स्वामी विशुद्धानन्द जी ने पत्रे स्वामी जी के हाथ में पकड़ाकर कहा कि आप ही पढ़ लीजिये।'

महर्षि जी- आप ही पढ़ लीजिये।'

स्वामी विशुद्धानन्द जी बोले- मैं चश्मे के बिना नहीं पढ़ सकता, इसलिए आप ही को पढ़ना होगा। महर्षि दयानन्द ने पत्रे हाथ में ले लिये। अंधेरे के कारण पढ़ना कठिन था। दीपक मंगवाया गया। लालटेन की रोशनी भी बड़ी मद्धम थी, पत्र पढ़ने में कुछ समय लगा। उचित मौका समझकर पण्डित-मण्डली उठ खड़ी हुई। इस प्रकार धूर्तता होते देखकर महर्षि दयानन्द ने स्वामी विशुद्धानन्द का हाथ पकड़कर कहा कि, बैठ जाइये! निर्णय किये बिना बीच ही में उठ खड़े होना आप जैसे विद्वानों के लिए कदापि उचित नहीं। परन्तु स्वामी विशुद्धानन्द जी न बैठे और महर्षि दयानन्द की पीठ पर हाथ फेरकर कहने लगे कि आप बैठिये, जो कुछ होना था हो चुका।'

पण्डितों का इशारा पाकर काशी नरेश ईश्वरीनारायणसिंह भी खड़े हो गए, और ताली पीट दी। इधर इशारा पहले से बंधा हुआ था। सारा जनसमूह एकदम खड़ा होकर सनातन धर्म की जय बोलने लगा। कोतवाल बड़ा सज्जन था। उसे काशी नरेश का ओछा व्यवहार बहुत अखरा। उसने काशी नरेश से कहा कि आपने ताली पीटकर बहुत बुरा किया। यह कार्य सभा के नियमों के विरुद्ध था। नरेश कोतवाल की बगल में हाथ देकर आगे बढ़ गए और समझाया कि हम तुम सभी मूर्तिपूजक हैं, तब अपने सामान्य शत्रु को जैसे हो सके पराजित करना ही चाहिये। इस दंगाकाण्ड के नेता काशी नरेश का इशारा पाकर सम्पूर्ण जनसमूह मनमानी करने लगा। किसी ने पत्थर, किसी ने कंकर, किसी ने जूता अधिक क्या कहें, जिसे जो मिला उसने वही उठाया और महर्षि जी की ओर फेंका। जैसे तूफान के समय हवा के जोरदार झोकों के साथ मिट्टी, कंकर, लकड़ी और पत्ता आदि पदार्थ पर्वत की निष्कम्प चट्टान पर टकराते हैं और लज्जित होकर नीचे गिर पड़ते हैं, इसी प्रकार

स्वार्थपूर्ण दम्भ द्वारा भड़काए हुए इन अज्ञानी लोगों के फेंके गर्हित पदार्थ भी लज्जित होकर गिर पड़े; संन्यासी के पयोधि-गम्भीर हृदय पर कोई प्रभाव न उत्पन्न कर सके।

पौराणिक दल ने शहरभर में पण्डितों का जुलूस घुमाया, मूर्तिपूजा का जय-जयकार मचाकर अपनी सत्यप्रियता का परिचय दिया और सब स्थानों पर समाचार भेज दिया कि महर्षि दयानन्द परास्त हो गये हैं। शहर में पण्डितों की ओर से विज्ञापन लगा दिये गए कि दयानन्द के पास कोई न जाए, जो जाएगा वह पातकी हो जाएगा। यह सब-कुछ किया गया, परन्तु संसार की आंखों में धूल न डाली जा सकी। देश के पक्षपातहीन समाचारपत्रों ने महर्षि दयानन्द की विजय का ही समाचार प्रकाशित किया। पं० सत्यव्रत सामश्रमी जी ने अपनी प्रत्नकम्रनन्दिनी नाम की मासिक पत्रिका में महर्षि जी की सफलता की घोषणा दी। रुहेलखण्ड नामक पत्र ने लिखा कि महर्षि दयानन्द जी ने काशी के पण्डितों को जीत लिया है। 'ज्ञान प्रदायिनी' (लाहौर) ने समाचार दिया कि इसमें सन्देह नहीं कि पण्डित लोग मूर्तिपूजा की आज्ञा वेदों में नहीं दिखा सके। हिन्दू पेट्रियट ने प्रकाशित किया कि पण्डित लोग यद्यपि अपने शास्त्रज्ञान का अति गर्व करते थे, परन्तु उनकी बड़ी भारी हार हुई।'

महर्षि जी का उपदेश सुनने से रोकनेवाला विज्ञापन भी निष्फल हुआ। हवा का झोंका भ्रमरों को फूल के पास जाने से रोक न सका।

लोग और भी अधिक उत्सुकता से संन्यासी का सदुपदेश सुनने जाने लगे। महर्षि दयानन्द की धाक चारों ओर बैठ गई। जिस फौलादी ढाल से टकराकर काशी के सुसंस्कृत तीर कुण्ठित हो गए, तिनकों की क्या मजाल थी कि उस पर अड़ सकें! देश-देशान्तर में इस शास्त्रार्थ का सम्वाद हवा की तरह फैल गया और अपने साथ महर्षिजी की पाण्डित्यकीर्ति के सौरभ को भी फैलाता गया। रूढ़ि के गढ़ से महर्षि दयानन्द की टक्कर का जो भयंकर शब्द हुआ, उससे दिशाएं गूंज उठीं।

सुधार की तीसरी दशा

(ई० 1870 से 1875 तक)

धीरे-धीरे महर्षि दयानन्द जी के सुधार कार्य ने अपनी तीसरी दशा में प्रवेश किया। समाज सुधारक के विचार पहले से ही विस्तृत थे, अनुभव के अधिक बढ़ने के साथ उनका क्रियात्मक रूप भी विस्तृत होने लगा। यह नहीं समझ लेना चाहिए कि बनारस के शास्त्रार्थ के पीछे एकदम कोई दशा परिवर्तन हो गयी। कार्य का क्षेत्र धीरे-धीरे बढ़ रहा था। बनारस के शास्त्रार्थ के कारण महर्षि जी की ख्याति सारे देश में फैल गई। देश की दशा से चिन्तित सुदूरवर्ती महानुभावों ने काशी के पण्डितों को पराजित करनेवाले वावदूक के वृत्तान्त पढ़कर हृदय को ढाढस दिया। उधर कलकत्ता, मुम्बई आदि के पण्डितों पर महर्षि जी की धाक बंध गई। समाज सुधारक दयानन्द की सब ओर चर्चा होने लगी।

यश के विस्तार के साथ-साथ महर्षि जी का दृष्टिक्षेत्र भी विस्तृत होने लगा। अगले पांच सालों में हम समाज सुधारक के कार्य का फैलाव होता देखते हैं। इसके साथ ही धीरे-धीरे महर्षि जी का कार्य करने का ढंग बदलने लगा। केवल शास्त्रार्थ की या अपने डेरे पर प्रचार करने की पुरानी रीति को छोड़कर नियमपूर्वक सभाएं करने और उनमें व्याख्यान देने की पद्धति का अनुसरण होने लगा। महर्षि जी अब तक केवल संस्कृत में व्याख्यान देते थे; उसमें परिवर्तन हो गया। आप हिन्दी में व्याख्यान देने लगे। अब तक केवल कौपीन धारण किये रहते थे- आश्रम पर, सभा में, शास्त्रार्थ के समय इसी वेष में रहते थे। वह भी बदलने लगा। सभा में आप कपड़े पहनकर जाने लगे। इसी समय सत्यार्थ प्रकाश भी लिखा गया। इस प्रकार महर्षि जी का प्रचार का क्रम अवस्थाओं से परिवर्तित होने लगा। यह परिवर्तन कार्य को अधिक विस्तृत और लोकोपयोगी बनाने का साधन हुआ।

परिवर्तन एकदम नहीं हुआ; कार्य के फैलाव के कारण नए-नए उपायों का अवलम्बन आवश्यक होता गया। दौरे के प्रसंग में देश के कई अन्य सुधारक महानुभावों से मिलने का मौका मिला। उनके साथ विचार-विनिमय में कई नए विचार उठे, जो शीघ्र ही कार्य में परिणत हो गए। जिस समय का वृत्तान्त हम लिखने लगे हैं, वह सुधार की अन्तिम दशा के निर्माण का समय था। उसके अन्त में हम महर्षि दयानन्द को एक पूर्ण सुधारक के साथ-साथ एक भारी कार्य का केन्द्र बना हुआ पाएंगे। सुधार की अन्तिम

दशा पर पहुंचकर महर्षि जी की कार्य शक्ति निर्माण के रूप में प्रकट होने लगी। यह विषय अगले परिच्छेदों का होगा। वर्तमान परिच्छेद में हम महर्षि जी के सुधार कार्य के फैलाव का वृत्तान्त लिखते हुए, उन सीढ़ियों की खोज करेंगे, जिनसे होकर कार्य का क्रम पूरी ऊंचाई तक पहुंचा।

बनारस से प्रयाग होते हुए महर्षि जी मिर्जापुर गए। मिर्जापुर में कई मास तक धर्म-प्रचार करके स्वामी जी फिर बनारस में पधारे। इस बार विशेष घटना यह हुई कि काशी नरेश ने अपने गत वर्ष के व्यवहार के लिए प्रायश्चित किया। नरेश ने स्वामी जी के दर्शनों की इच्छा प्रकट की और अनुमति पाकर अपनी गाड़ी भेज दी। महर्षि जी जब नियत स्थान पर पहुंचे तो महाराज ने खड़े होकर स्वागत किया, अन्दर ले जाकर स्वर्ण के सिंहासन पर बिठाया और अपने हाथों से महर्षि जी के गले में हार पहनाया।

प्रारम्भिक कार्य समाप्त हो जाने पर महाराज ने महर्षि जी से हाथ जोड़कर निवेदन किया कि मूर्तिपूजा में हमारे कुल की सनातन काल से श्रद्धा है, उसके प्रसंग से शास्त्रार्थ के समय आपकी अवज्ञा हो गई थी। आप संन्यासी हैं-आशा है, क्षमा कर देंगे। महर्षि जी ने उत्तर में कहा कि हमारे मन में उस बात का लेश मात्र भी संस्कार नहीं है। महाराज ने विदा करते हुए महर्षि जी की सेवा में उचित भेंट उपस्थित की इस प्रकार यह सुखान्त प्रसंग समाप्त हुआ।

बनारस से महर्षि जी कासगंज गए। वहां आपकी स्थापित की हुई एक पाठशाला थी, जिसमें ब्रह्मचर्य के नियमों के पालन के साथ अष्टाध्यायी महाभाष्य तथा मनुस्मृति आदि का अध्ययन कराया जाता था। कासगंज की पाठशाला का महर्षि जी ने निरीक्षण किया। यहां पर एक घटना हुई, जो देखने में सामान्य थी, परन्तु उससे महर्षि जी की निर्भयता का पुष्ट प्रमाण मिलता है। आप बाजार में जा रहे थे, सामने से एक मस्त मरखना सांड आ रहा था। बाजार के सब लोग इधर-उधर भाग रहे थे, कोई सांड रोकने का साहस नहीं कर रहा था। महर्षि जी रास्ते से न हटे और चलते ही गए। जब महर्षि जी बहुत पास पहुंचे, तब सांड स्वयं ही रास्ता छोड़कर अलग हो गया। जनता के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। एक भक्त ने पूछा कि महाराज! यदि वह सांड सामने से न हटता तो आप क्या करते ? स्वामी जी ने उत्तर दिया कि सींग से पकड़कर उसे अलग कर देते। महर्षि जी पर शारीरिक भय कोई प्रभाव नहीं कर सकता था। यहां से चलकर महर्षि जी जलेसर, कर्णवास, फर्रुखाबाद आदि स्थानों पर भ्रमण करते हुए बनारस गए, और वहां से पूर्व की ओर प्रस्थान किया।

पूर्व की यात्रा में एक बड़ी मनोरंजक घटना हुई। मुंगेर जाते हुए रास्ते में जमालपुर जंक्शन पर कुछ देर तक ठहरना पड़ा। महर्षि जी के शरीर पर केवल कौपीन थी। आप प्लेटफॉर्म पर घूम रहे थे। स्टेशन पर पत्नी सहित एक अंग्रेज इंजीनियर विद्यमान था। नंगा शरीर देखकर इंजीनियर साहब के सभ्यता-सम्बन्धी विचारों पर बड़ा धक्का लगा। उसने झट स्टेशन मास्टर को बुलाकर कहा कि यह नंगा कौन टहल रहा है? इसे इधर-उधर घूमने से बन्द कर दो! स्टेशन मास्टर का अंग्रेज ही ईश्वर था। उसने महर्षि के पास जाकर निवेदन किया कि महाराज! दूसरी ओर चलकर कुर्सी पर आराम कीजिये। मुंगेर की गाड़ी के जाने में अभी देर है । स्वामी जी सब ताड़ गए। आपने स्टेशन मास्टर से कहा कि जिसने तुम्हें हटाने के लिए कहा है उससे कह दो कि हम उस समय के मनुष्य हैं, जब आदम हव्वा नंगे अदनबाग में सैर किया करते थे। स्टेशन मास्टर यह उत्तर सुनकर टल गया। महर्षि जी टहलते रहे। इंजीनियर ने उसे फिर बुलवाया। स्टेशन मास्टर ने साधु को प्लेटफॉर्म से हटाने में असमर्थता प्रकट करते हुए कहा कि यह स्वतन्त्र संन्यासी है। आश्चर्यित होकर अंग्रेज ने नाम पूछा। स्टेशन मास्टर ने नाम बता दिया। साहब यह कहता हुआ कि क्या ये ही प्रसिद्ध सुधारक महर्षि दयानन्द सरस्वती हैं? झट महर्षि जी के पास चला गया और बहुत देर तक बातचीत करता रहा।

मुंगेर से भागलपुर होते हुए महर्षि जी 1872 ई० के दिसम्बर मास में कलकत्ता पहुंचे। वहां उन दिनों बाबू केशवचन्द्र सेन की धूमधाम थी। ब्राह्मो समाज के आकाश में सेन बाबू का सितारा चमक रहा था। प्रारम्भ में कलकत्ता के ब्राह्मो समाजियों की ओर से महर्षि जी का विशेष सत्कार भी हुआ। यद्यपि ब्राह्मो समाज के वृद्ध नेता श्रीयुत देवेन्द्रनाथ टागोर ने अपना स्थान महर्षि जी के उतारे जाने के लिए नहीं दिया, तो भी अन्य ब्राह्मो समाजियों ने स्वामी जी का अच्छा आदर किया। पं० हेमचन्द्र चक्रवर्ती उन लोगों में से थे जो विश्वास से ब्राह्मो थे, परन्तु बाबू केशवचन्द्र सेन की ईसाइयत की ओर प्रवृत्ति से कुछ असन्तुष्ट थे। महर्षि जी के उपदेशों से उन पर बड़ा प्रभाव हुआ। वह देर तक स्वामी जी के साथ रहकर योगाभ्यासादि सीखते रहे।

बाबू केशवचन्द्र सेन कहीं बाहर गए हुए थे। जब वह कलकत्ता आए तो महर्षि जी का समाचार सुना। मिलने की इच्छा से सेन महाशय महर्षि जी के पास गए, परन्तु परिचय न दिया और बातचीत करने लगे। बातचीत के पीछे सेन महाशय ने महर्षि जी से पूछा कि क्या आप कभी केशवचन्द्र सेन से मिले हैं? स्वामी जी ने उत्तर दिया, हां, मिले हैं। सेन महाशय ने पूछा, आप उससे कब मिले? महर्षि जी ने उत्तर दिया, अभी। सेन महाशय आश्चर्यित

हुए। आपने पूछा, यह आपने कैसे जाना कि मैं ही केशवचन्द्र हूं? महर्षि जी ने उत्तर दिया कि जैसी बातें आपने की हैं, वैसी किसी दूसरे से नहीं हो सकतीं। इस प्रकार इन दो महापुरुषों में परिचय हुआ। इसके अनन्तर महर्षि जी और सेन महाशय में वार्तालाप होता रहा।

दोनों महापुरुष देश की भलाई में दत्तचित थे, दोनों ही अद्‌भुत वक्ता थे, दोनों ही में जनता पर बिजली का असर पैदा करने की शक्ति थी। जिस प्रकार समानताएं थीं, वैसे ही असमानताएं भी बहुत-सी थीं। एक बड़ी असमानता दोनों महापुरुषों की निम्नलिखित बातचीत से स्पष्ट होगी। एक दिन सेन महाशय ने महर्षि जी से पूछा कि भिन्न-भिन्न धर्मों को माननेवाले लोग अपने मान्य ग्रन्थ को ईश्वरीय और अन्तिम प्रमाण मानते हैं, और कहते हैं आप वेद को ईश्वरीय ज्ञान कहते हैं। हम कैसे जानें किसका कहना सच्चा है? महर्षि जी ने उत्तर में कुरान और बाइबिल में से अनेक दोष दिखाए और वेदों की निर्दोषता दिखाते हुए कहा-निर्दोष होने से वैदिक धर्म ही सच्चा है।

इस वाक्य पर सेन महाशय ने कहा-शोक हैं कि वेदों का अद्वितीय विद्वान् अंग्रेजी नहीं जानता, अन्यथा इंग्लैंड जाते समय वह मेरा इच्छानुकूल साथी होता! स्वामी जी ने उत्तर दिया शोक है कि ब्राह्मो समाज का नेता संस्कृत नहीं जानता और लोगों को उस भाषा में उपदेश देता है जिसे वे नहीं समझते!

(श्रीमद्‌दयानन्द प्रकाश)

दोनों नेताओं में यही भेद था। एक की दृष्टि पूर्वाभिमुख थी, दूसरे की पश्चिमाभिमुख। एक को भारत की आर्य प्रजा की हितकामना थी, दूसरे का अधिक ध्यान यूरोप के साधुवाद की ओर था। व्यक्तिगत स्वभाव में भी अनेक भेद थे, परन्तु उनके उल्लेख की यहां आवश्यकता नहीं। एक का जीवन हृदय का खिलौना था, दूसरे की उमंगें उच्च जीवन की दासियां थीं। एक के आत्मा की उच्चतर अभिलाषा यह थी कि वह ब्रह्मा से जैमिनि पर्यन्त ऋषियों का अन्यतम व्याख्याता बने और दूसरे का हृदय संसार में एक नया धर्म स्थापित करके मुहम्मद और ईसा की श्रेणी में शामिल होने पर तुला हुआ था। इन भेदों के होते हुए भी यह कहने में अत्युक्ति नहीं है कि अपने-अपने क्षेत्र में दोनों ही असाधारण थे, दोनों में चुम्बक की शक्ति थी, प्रतिभा थी, महापुरुषता के सम्पूर्ण चिह्न थे। ऐसे दो महापुरुषों का परस्पर मेल-मिलाप विशेष फल उत्पन्न किए बिना नहीं रह सकता था। यदि विशेष विचार से देखा जाय तो मालूम होगा कि इस बातचीत का दोनों ही पर बहुत गम्भीर परिणाम हुआ।

बाबू केशवचन्द्र सेन के जीवन का यदि मनोवैज्ञानिक अनुशीलन करें तो हम उसमें दो-तीन परिवर्तन देखते हैं। प्रारम्भ में उनका झुकाव ईसाइयत

महर्षि का यह चित्र जबलपुर में सन् 1874 ई. में श्रीयुत कृष्णराव जी एकस्ट्रा असिस्टेन्ट कमिश्नर ने महर्षि को अपने मकान पर आमंत्रित करके खिंचवाया था।

की ओर था। उसका पहला प्रकाश 1866 में हुआ, जब मेडिकल कॉलेज में "Jesus Christ—Asia and Europe" इस विषय पर व्याख्यान देते हुए सेन महाशय ने ईसा को ईश्वर का पुत्र और पैगम्बरों का सरदार बताया। यह लहर बहुत वर्षों तक रही और इस लहर में बहते हुए ब्राह्मो नेता का ध्यान योग या तपस्या की ओर नहीं गया। लगभग 7 वर्ष पीछे हम एकदम बड़ा परिवर्तन देखते हैं और 1875 के अन्त में बाबू केशवचन्द्र सेन को तप और योग की ओर झुकता हुआ पाते हैं। स्वामी दयानन्द जी 1873 के प्रारम्भ में कलकत्ता गए थे। इन दोनों घटनाओं में परस्पर सम्बन्ध ढूंढ लेना कुछ कठिन नहीं है। एक बार परिवर्तन आरम्भ हो जाने पर सेन महाशय की गतिशील प्रवृत्ति का बहुत आगे बढ़ जाना स्वाभाविक ही था। भक्तिमार्ग पर उस समय के ब्राह्मो समाजियों ने कैसे-कैसे परिहास किये, यह बताने की आवश्यकता नहीं; परन्तु लेखक की सम्मति है कि केशवचन्द्र के हृदय में जो बहिर्मुख लहर बह रही थी, उसे अन्तर्मुख करने के लिए प्रारम्भिक चोट महर्षि दयानन्द से मिली हो-यह कुछ असम्भव नहीं है।

यह मानने में कोई संकोच का कारण नहीं है कि कलकत्ता में बाबू केशवचन्द्र सेन और ब्राह्मो समाज के कार्य का अनुशीलन महर्षि जी के कार्यक्रम पर भी कुछ कम प्रभाव उत्पन्न करनेवाला नहीं हुआ। यह मानी हुई बात है कि महर्षि जी ने सर्वसाधारण के लिए आर्य भाषा में व्याख्यान देना बाबू केशवचन्द्र सेन के कहने पर ही प्रारम्भ किया था। इससे पूर्व वह संस्कृत में ही व्याख्यान देते थे। अब तक प्रायः महर्षि जी कौपीन मात्र रखते थे, व्याख्यान के समय भी यही वेष रहता था। बाबू केशवचन्द्र सेन के कथन पर महर्षि जी ने व्याख्यान देने के समय अन्य वस्त्र धारण करना भी अंगीकार कर लिया। इन दो बातों के अतिरिक्त यह भी कुछ कम महत्त्व की बात नहीं है कि आर्यसमाजरूपी संगठन स्थापित करने का विचार महर्षि जी के हृदय में कलकत्ता जाने के पीछे ही उत्पन्न हुआ। इससे पूर्व किसी संगठन की स्थापना का विचार उदबुद्ध हुआ प्रतीत नहीं होता। ब्राह्मो समाज के सिद्धान्तों और संगठन की अपूर्णता को देखकर महर्षि दयानन्द के हृदय में एक अन्य वैदिक समाज को स्थापित करने की इच्छा उत्पन्न हुई हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

कलकत्ता में महर्षि जी के कई व्याख्यान हुए। एक व्याख्यान सेन महाशय के घर पर भी हुआ। इन व्याख्यानों का बहुत उत्तम प्रभाव होता रहा। उत्साहपूर्ण बंगाली जनता का हृदय महर्षि जी के भाषणों से उछल पड़ा। कलकत्ता से हुगली, भागलपुर आदि स्थानों पर प्रचार करते हुए महर्षि जी

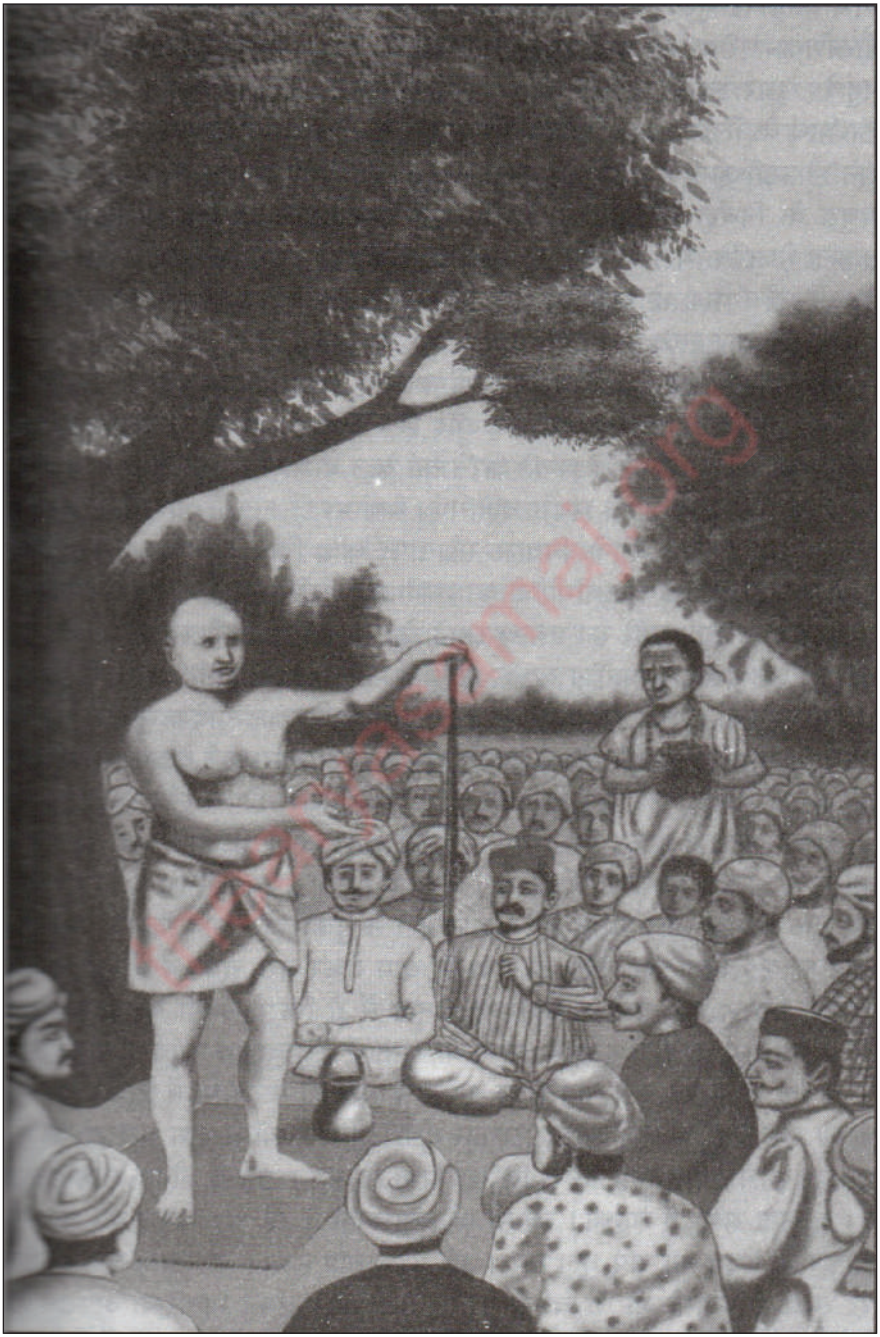

महर्षि दयानन्द और विषधर सर्प

फर्रुखाबाद गए। वहां पाठशाला का निरीक्षण करके 25 दिसम्बर 1873 के दिन आप अलीगढ़ पहुंचे। यहां आपने राजा जयकृष्णदास जी के यहां आसन जमाया। अलीगढ़ से होते हुए महर्षि जी मथुरापुरी गए। मथुरा वैष्णवों की राजधानी है। वहां के रंगाचार्य जी तिलक छापधारियों के परम गुरु माने जाते थे। फाल्गुन एकादशी संवत् 1930 के दिन, ब्रह्मोत्सव के समय महर्षि जी ने वृन्दावन में पहुंचकर मलूकदास के राधाबाग में आसन जमाया। यहां पर अनेक मनोरंजक घटनाएं हुईं।

वृन्दावन में ब्रह्मोत्सव के अवसर पर हजारों लोग एकत्र होते हैं। महर्षि जी ने निर्भीकता से मूर्तिपूजा, तिलक छाप आदि का खण्डन प्रारम्भ कर दिया। पौराणिक सरोवर में भारी हलचल मच गई। लोग भागे हुए रंगाचार्य के पास पहुंचे। इधर महर्षि जी ने भी रंगाचार्य के पास एक पत्र भेजा, जिसमें उन्हें शास्त्रार्थ के लिए आमन्त्रण दिया। रंगाचार्य जी ने बनारस के शास्त्रार्थ की घटना सुन ही रखी होगी। जिस वीर योद्धा पर काशी के हथियार नाकाम हुए, उस पर मथुरा के निर्बल हथियार क्या असर डाल सकते थे! रंगाचार्य जी ने पहले तो कहला भेजा कि मेले के दिनों में अवकाश न होने से शास्त्रीय विचार होना कठिन है, और जब मेला हो चुका तो रोगी होने के कारण महर्षि जी के आमन्त्रण को स्वीकार न कर सके।

रंगाचार्य जी शास्त्रार्थ के मैदान में न आए, परन्तु उनके शिष्य नीचता के मैदान में उतर आए। विषधर सर्प और ईंट-पत्थर फेंककर वे कई उपायों से महर्षि जी को डराने या बेइज्जत करने का यत्न करते रहे। वृन्दावन में धर्म की ध्वजा गाड़कर महर्षि जी मथुरा चले गए। यहां पण्डों, गुण्डों और चौबों के एक बड़े समूह ने महर्षि जी के निवास स्थान पर धावा किया। धावा करनेवालों के हाथों में डण्डे थे। इधर महर्षि जी का स्थान भी अरक्षित नहीं था। महर्षि जी के भक्त राजपूत सदा पहरे का प्रबन्ध रखते थे। गुण्डा - मण्डली महर्षि जी के द्वार को सुरक्षित देखकर आगे न बढ़ सकी और गालियां बकने लगी। महर्षि जी के सेवक गालियां सुनकर जोश में आ गए, परन्तु शान्ति का उपदेश सुनकर चुप हो गए। महर्षि जी ने उन्हें समझा दिया कि नासमझों की नासमझी देखकर समझदारों को अपनी समझ नहीं छोड़ देनी चाहिये। गुण्डे निराश होकर लौट गए।

यहां से निराश होकर विरोधियों ने दूसरी चाल चली। उन्होंने चांद पर थूकने का विचार किया। महर्षि जी उपदेश दे रहे थे। उस समय विरोधियों के बहकाए हुए एक कसाई और शराब की दुकानवाले ने पुकारकर कहा कि महर्षि जी, आपका कई दिनों का लेखा हो गया है, दाम देकर उसे चुका

क्यों नहीं देते? विरोधी निराश हुए, क्योंकि उपस्थित जनता में से किसी ने भी यह विश्वास न किया कि सूर्य कलंकी हुआ है। सभा के अन्त में उन्हें बुलाकर पूछा गया तो उत्तर मिला कि महाराज, हमें मांगीलाल मुनीम ने कहा था कि सभा में जाकर तुम यह वाक्य कह देना, मैं तुम्हें पीछे पुरस्कार दूंगा। विरोधियों ने एक कुलटा को भी धन का लोभ देकर तैयार किया कि वह सभा में जाकर महर्षि जी पर लांछन लगा दे। कुलटा सभा में पहुंची। महर्षि जी व्याख्यान दे रहे थे। अमृत की धारा से पापिन के हृदय का पाप धुल गया। उसे पश्चात्ताप हुआ। व्याख्यान की समाप्ति पर स्वयं ही महर्षि जी के चरणों में गिर पड़ी और अपने मानसिक अपराध के लिए क्षमा मांगने लगी। ब्रह्मचारी निर्दोष था। जो निर्दोष है, उस पर फेंका हुआ मल लौटकर फेंकनेवाले पर ही पड़ता है।

मथुरा से चलकर मिर्जापुर व बनारस होते हुए महषि जी प्रयाग पहुंचे। यहां पर उनके प्रचार का यश पहले से ही पहुंच चुका था। शिक्षित समाज बड़ी उत्सुकता से आपके व्याख्यान सुनने आता था। रायबहादुर पण्डित सुन्दरलाल आपके विशेष भक्तों में से थे। वह बराबर सत्संग में आया करते थे। इन दिनों महर्षि जी ईसाइयों का बड़े जोर से खण्डन किया करते थे। सत्यार्थप्रकाश के लेखन का कार्य भी बराबर होता था।

आपकी योगशक्ति की सूचना समय-समय पर लोगों को मिलती रहती थी। योगशक्ति का ही फल था कि आप परोक्ष की कल्पना कर लिया करते थे और वह कल्पना ठीक निकलती थी। एक बार रायबहादुर पण्डित सुन्दरलाल आदि सज्जन महर्षि जी के स्थान पर बैठे हुए थे। महर्षि जी मुस्कराते हुए उनके सम्मुख आए और उन लोगों से कहने लगे कि एक मनुष्य मेरी ओर चला आ रहा है। उसके आने पर आपको एक कौतुक दिखाई देगा। थोड़ी देर में एक ब्राह्मण मिठाई लिये आ पहुंचा और सामने रख दी। महर्षि जी ने मिठाई का एक टुकड़ा उसे खाने को दिया, परन्तु उसने लेने से इनकार किया और उल्टा कांपने लगा। तब सबने समझ लिया कि अवश्य इस मिठाई में विष मिला हुआ है। मिठाई का एक टुकड़ा कुत्ते के आगे फेंका गया, जिसे खाकर कुत्ता छटपटाने लगा और शीघ्र ही मर गया। तब तो उपस्थित लोग उस ब्राह्मण को पुलिस के सुपुर्द करने को तैयार हो गए। महर्षि जी ने अपनी दयालुता के कारण उसे क्षमा कर दिया। 1874 ई० के अक्तूबर मास के मध्य तक महर्षि जी प्रयाग में रहे, फिर पश्चिम की ओर प्रस्थित हुए।

बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना

महर्षि दयानन्द का सुधार सम्बन्धी कार्यक्रम सर्वांग-सम्पन्न होकर जनता के सामने आ गया। महर्षि जी ने अपने कार्य को वैष्णव सम्प्रदाय के खण्डन से प्रारम्भ किया था। धीरे-धीरे उनका खण्डनास्त्र सारे पौराणिक मतों पर व्याप गया। वह सुधार की दूसरी दशा थी। ज्यों-ज्यों वैदिक धर्म का रूप अन्य सब मतों की अपेक्षा उज्ज्वल दिखाई देने लगा, त्यों-त्यों अन्य सब धर्माचार्यों का अपनी रक्षा के लिए यत्न भी जारी हो गया। ईसाई और मुसलमान अपने सम्प्रदाय की रक्षा के लिए चेष्टा करने लगे। इसी में महर्षि जी का मौलवियों और पादरियों से भी संघर्ष उत्पन्न हो गया। महर्षि जी ने सब मतों और सम्प्रदायों का खण्डन कर वैदिक धर्म को स्थापित करना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार महर्षि जी का कार्यक्रम पूरा हो गया।

महर्षि जी ने ईसाइयत और इस्लाम का जो खण्डन प्रारम्भ कर दिया, इस बात के दो निमित्त बताए जा सकते हैं। एक निमित्त तो यह कि महर्षि जी उस समय की आर्यजाति पर इन दो मतों से उत्पन्न होनेवाले खतरे को देख रहे थे। महर्षि जी ने देखा कि हिन्दुओं को ईसाई और मुसलमान कवलित कर रहे हैं। आर्यजाति जिसे दुर्भाग्य से हिन्दूजाति का नाम भी दिया गया था, पादरियों और मौलवियों के धावों के सामने डांवाडोल हो रही थी। महर्षि जी आर्यजाति के रक्षक बने और ईसाइयत तथा इस्लाम की बाढ़ को रोकने का यत्न करने लगे।

एक दूसरे प्रकार से भी इसी बात को समझाया जा सकता है। महर्षि जी मनुष्य मात्र के हितैषी थे। वह चाहते थे कि हिन्दू हो या बौद्ध, ईसाई हो या मुसलमान, भारतवासी हो या विदेशी मनुष्य मात्र वैदिक धर्म को स्वीकार करे। अन्य धर्मावलम्बियों को धर्म-सम्बन्धी भ्रान्तियों में से निकालने के लिए ही महर्षि जी ने खण्डन का कार्य आरम्भ किया था। खण्डन का उद्देश्य आर्य जाति की रक्षा नहीं, अपितु अन्य मतवादियों का खण्डन ही था। कार्य एक था- दो व्याख्याओं के अनुसार उस पर भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रकाश पड़ता है। इसी विषय पर पूरा विचार तो हम एक अलग परिच्छेद में करेंगे, यहां केवल इतना विचारणीय है कि सुधार की दूसरी और तीसरी दशाओं में जो भेद था, उसका निमित्त महर्षि जी का केवल आर्यजाति के प्रति प्रेम था

या मनुष्यमात्र के प्रति प्रेम? यदि ईसाइयों और मुसलमानों का खण्डन केवल आर्यजाति को उनके आक्रमणों से बचाने के लिए ही था तो खण्डन का निमित्त केवल आर्यजाति के प्रति प्रेम होगा, परन्तु यदि खण्डन का निमित्त ईसाई-मुसलमानों को वैदिक-धर्मी बनाना था तो निमित्त मनुष्य-प्रेम होगा।

लेखक की सम्मति है कि महर्षि जी ने दोनों ही निमित्तों से ईसाइयों तथा मुसलमानों का खण्डन किया। उन्हें मनुष्य मात्र से प्रेम था, परन्तु आर्य-जाति से विशेष प्रेम था। उस प्रेम का केवल यह कारण नहीं था कि वह आर्य जाति में उत्पन्न हुए थे; यह भी कारण था कि वह आर्य जाति को शेष सब जातियों की अपेक्षा सत्य के अधिक पास समझते थे। वेद धर्म का स्रोत है, और केवल आर्य जाति ही है जो वेदों को प्रामाणिक मानती है। जिन आर्ष ग्रन्थों से महर्षि जी वेद के आशय को ढूंढते थे, उनका खजाना भी आर्य जाति के ही पास था। वैदिक संस्कार, वैदिक ज्ञान, वैदिक धर्म-सबके अवशेष यदि कहीं थे, तो आर्यजाति में थे। इस कारण स्पष्ट है कि जहां आर्यजाति को शुद्ध वैदिक धर्म पर लाने के लिए केवल सुधार की आवश्यकता थी, वहां ईसाइयत और इस्लाम का मूलसहित परिवर्तन किये बिना वैदिक धर्म के लिए स्थान नहीं निकाला जा सकता था। एक जगह केवल काट-छांट चाहिए तो दूसरी जगह उखाड़ना भी आवश्यक था। आर्यजाति की रक्षा और सुधारणा आवश्यक थी, परन्तु अन्य मतवादों का रूप परिवर्तन अभीष्ट था। महर्षि जी ने आर्यजाति की रक्षा और सुधारणा करते हुए ईसाइयत और इस्लाम को रास्ता रोके खड़ा पाया। वे धर्म आर्यजाति की सत्ता को नष्ट करने की धमकी दे रहे थे। आर्यजाति को सुधारकर, शुद्ध वैदिक बनाकर, संसार की भलाई का साधन बनना चाहते थे। आर्यजाति के लिए भयानक समझकर आर्यजाति के रक्षक ने ईसाइयत और इस्लाम पर प्रत्याक्रमण किये। इससे मनुष्यमात्र का भला ही अभीष्ट था। प्रथम तो महर्षि जी समझते थे कि यदि आर्य जाति के विचारों का पूरा सुधार हो जाय तो 23 करोड़ से अधिक वैदिक-धर्मी सारे संसार को सच्चे धर्म की शरण में ला सकते हैं। वह देखते थे कि आर्यजाति के अधूरे वैदिक धर्मी अन्य प्रभावों में आकर बिल्कुल अवैदिक और अनार्य बन रहे हैं। मनुष्यजाति की भलाई इसी में थी कि आर्यजाति अपने रूप को समझकर संसार को शुद्ध धर्म का प्रकाश दे सके। दूसरे,महर्षि जी चाहते थे कि अपने-अपने मतों की निर्बलताएं देखकर ईसाई, मुसलमान आदि वैदिक धर्म की शरण में आ सकें। महर्षि जी का आर्यजाति के प्रति पक्षपात था, परन्तु वह गुणों का पक्षपात था। भारवि कवि ने कहा है-

वीतस्पृहाणामपि मुक्तिभाजां-
भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाताः ।

महर्षि दयानन्द आर्यजाति को अपना बिगड़ा हुआ किला समझते थे और अन्याधर्मावलम्बिनी जातियों को उस किले पर आक्रमण करनेवाले प्रतिपक्षी। यह विचार समय के साथ धीरे-धीरे परिपक्वता को प्राप्त हुआ। जिस समय का हम वर्णन कर रहे हैं उस समय महर्षि जी रक्षा, सुधार और प्रत्याक्रमण के पूरे कार्यक्रम को तैयार कर चुके थे। वह उस समय युद्ध की गहराई में थे। सब प्रतिपक्षी चौकन्ने हो चुके थे और महर्षि जी से सीखे हुए अस्त्रों की सहायता से उनके प्रत्याक्रमणों को रोकने का उद्योग कर रहे थे।

इस प्रकार प्रत्याक्रमण द्वारा आक्रमणों को रोकते हुए धर्म-महारथी 22 अक्तूबर 1874 को प्रयाग से बम्बई पहुंचे। देर से महर्षि जी के पास बम्बई निवासियों के निमन्त्रण आ रहे थे। बम्बई के समाज सुधारक सुधार सम्बन्धी कार्य को उन्नति देने के लिए व्यग्र थे। इस कारण उनका आग्रह था कि महर्षि जी शीघ्र ही बम्बई पधारें। महर्षि जी के भक्त पं० सेवकलाल जी आदि ने पहले ही से काशी-शास्त्रार्थ की प्रतियां शहर में बंटवाकर प्रसिद्ध कर दी थीं। स्टेशन पर महर्षि जी का अच्छा स्वागत हुआ। बालुकेश्वर पर एक उत्तम आश्रम में महर्षि जी के निवास का प्रबन्ध किया गया था। वहीं पर प्रतिदिन धर्म-चर्चा होने लगी। बम्बई में वल्लभ सम्प्रदाय का विशेष जोर है। महर्षि जी ने उसी का खण्डन आरम्भ किया। वल्लभ सम्प्रदाय की लीला का उल्लेख अब आवश्यक नहीं रहा। सम्प्रदाय के गुरुओं की घृणास्पद लीलाओं से अब देश काफी परिचित हो चुका था। महर्षि जी ने जब बम्बई में उनके आचरण देखे और सुने, तो उनके हृदय में बड़ा क्षोभ उत्पन्न हुआ। उन्होंने बलपूर्वक खण्डन प्रारम्भ किया। वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुयायियों में हलचल पैदा हो गई। गोकुलिये गोसाइयों में जीवन जी गोसाईं बहुत चलता-पुर्जा था। उसने महर्षि जी के सेवकों तक को बहकाकर विष द्वारा धर्म की आवाज को शान्त करने का यत्न किया, परन्तु महर्षि जी को रहस्य का पता लग गया और जीवन जी का कंटक दूर न हुआ। कुछ लोग महर्षि जी का पीछा करने लगे। वे छाया के समान पीछे रहने लगे ताकि अवसर पाकर कांटे को उखाड़ दें; परन्तु सफलता प्राप्त न हुई। महर्षि जी निर्भय तो थे, परन्तु असावधान नहीं थे। बहुत-सी आपत्तियां तो उनकी सावधानता से ही दूर हो जाती थीं। कई लोग समझते हैं कि आंखें बन्द करके चलने का नाम निर्भयता है, किन्तु महर्षि जी उनमें से नहीं थे। भय को न देखना निर्भयता नहीं, भय

को देखना और देखकर भी कर्तव्य के मार्ग से न विचलना ही निर्भयता के नाम से पुकारा जा सकता है। सावधानता महर्षि जी का विशेष गुण था। अपने डेरे की छोटी-से-छोटी बात पर महर्षि जी की दृष्टि रहती थी। बम्बई के एक सेठ ने दुकान पर कह छोड़ा था कि महर्षि जी का नौकर खाने-पीने को जो सामान लेने आए वह दे दिया जाय और बिल मेरे पास भेज दिया जाय। एक बार जांच करने पर महर्षि जी को पता चला कि आवश्यकता से सात गुणा अधिक सामान डेरे पर आया है; नौकर लोग अधिक सामान को बेचकर अपनी मुट्ठी गर्म कर रहे हैं। महर्षि जी ने दो अपराधी नौकरों को सेवा से पृथक् कर दिया।

इस समय महर्षि जी के अनुयायियों की संख्या हजारों से अधिक हो चुकी थी। सुधरे हुए विचारों के लोग देश-भर में फैले हुए थे। वे लोग बिखरे हुए फूलों की भांति इधर-उधर पड़े थे, उनकी माला तैयार नहीं हुई थी। सबके एकत्र न होने से शक्तियां बहुत बिखरी हुई थीं उनका कोई केन्द्र नहीं था। इस अभाव को महर्षि जी के शिष्य चिरकाल से अनुभव कर रहे थे। बम्बई में बहुत से आर्य- पुरुष महर्षि जी के पास आए और आर्यों का एक संगठन बनाने के विषय में प्रार्थना की। देर तक विचार होता रहा। विशेष चिन्ता नाम के विषय में थी। महर्षि जी ने आर्यसमाज नाम उपस्थित किया, जो आर्य पुरुषों के हृदयों के ऐन अनुकूल था। महर्षि दयानन्द आर्यजाति के सुधारक और रक्षक थे। वह आर्यत्व के पोषक और प्रतिनिधि थे। आर्यसमाज नाम इसी बात को सूचित करता है। यह नाम सभी आर्य-पुरुषों के हृदयों में ठीक जंचा और आर्यसमाज बनाने की तैयारियां होने लगीं।

हरेक समाज के लिए कोई न कोई आधार चाहिए। आर्यसमाज का मूल वेद हैं, परन्तु अभी तक वे अगम्य सागर थे, जिन तक पहुंचना किसी आर्य-पुरुष की शक्ति में नहीं था। अभी वह समय नहीं आया था कि वेदों के आधार पर ही आर्यसमाज की स्थापना कर दी जाती। आधार में रखने के लिए एक ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता थी जो लोगों की समझ में आ सके, ताकि प्रत्येक आर्य-पुरुष आर्यसमाज में आने से पूर्व जान सके कि किन सिद्धान्तों को माननेवाला पुरुष आर्यसमाज में प्रविष्ट हो सकता है। सौभाग्य से इस समय ऐसा ग्रन्थ भी तैयार हो चुका था जब महर्षि जी अलीगढ़ में प्रचार कर रहे थे, तब राजा जयकृष्णदास जी ने प्रार्थना की थी कि एक ऐसा ग्रन्थ प्रकाशित कर दिया जाय जिसमें सब सिद्धान्तों का समावेश हो। महर्षि जी ने उस प्रस्ताव को स्वीकार करके अपने व्याख्यानों का संग्रह करा लिया

और वह सत्यार्थप्रकाश के नाम से प्रकाशित हुआ। उस समय सत्यार्थप्रकाश प्रथम बार प्रकाशित हो चुका था।

समय अनुकूल था, परन्तु महर्षि जी को शीघ्र ही बम्बई से सूरत जाना पड़ा। इससे कुछ समय के लिए समाज की स्थापना विलम्बित हो गई। 24 नवम्बर 1874 से यह परामर्श आरम्भ हुआ था लगभग 60 सज्जनों ने सभासद् बनने की प्रतिज्ञा की थी। दिसम्बर में महर्षि जी को बम्बई से जाना पड़ा। 3 मास के लगभग गुजरात प्रान्त में प्रचार करने के अनन्तर जब जनवरी में फिर महर्षि जी बम्बई गए, तब आर्यसमाज की स्थापना का प्रस्ताव अधिक उत्साह से उठाया गया। इस बार यत्न शीघ्र ही सफल हो गया। राजमान्य राजश्री पानाचन्द्र आनन्द जी सर्वसम्मति से नियमों का मसव्विदा बनाने के लिए नियत किये गए। उनके बनाए हुए मसव्विदे पर विचार करके चैत्र शुक्ल प्रतिपदा सं० 1932, तदनुसार 10 अप्रैल 1875 ई० के दिन, गिरगांव में डॉ० मानिकचन्द्र जी की वाटिका में नियमपूर्वक आर्यसमाज की स्थापना हुई। आर्यसमाज के 28 नियम बनाए गए। वर्तमान 10 नियम लाहौर में पीछे से बनाए गए थे। प्रारम्भिक 28 नियमों में सभी कुछ हैं; उद्देश्य, नियम, उपनियम आदि सब कुछ उनमें आ गए हैं। यह पहला अवसर था कि महर्षि दयानन्द जिन सिद्धान्तों का प्रचार करना चाहते थे, उनके माननेवाले लोग एक सूत्र में पिरोए जाकर संगठित हुए। आर्यसमाज की नींव में कौन-कौन से विचार कार्य कर रहे हैं-यह जानना हो तो इन प्रारम्भिक 28 नियमों का विवेचन आवश्यक है। ऐसा विवेचन मनोरंजकता से भी खाली न होगा।

बम्बई आर्यसमाज का तत्कालीन पहला नियम बड़ी स्पष्टता से आर्यसमाज के उद्देश्य को प्रकाशित करता है। वह कहता है-सब मनुष्यों के हितार्थ आर्यसमाज का होना आवश्यक है-आर्यसमाज का उद्देश्य सब मनुष्यों का हित करना है। यह विस्तृत उद्देश्य है, जिससे आर्यसमाज की स्थापना हुई है। संसार में इससे बढ़कर व्यापक उद्देश्य नहीं हो सकता। दूसरा नियम बताता है कि इस समाज में मुख्य स्वतः प्रमाण वेदों को ही माना जाएगा। इस वाक्य में आर्यसमाज का धार्मिक आधार स्पष्ट रूप से बता दिया गया है। केवल वेद ही स्वतः प्रमाण और धर्म के मूल आधार हैं। अन्य ग्रन्थ चाहे वे आर्ष ही क्यों न हों, जहां तक वेदानुकूल न हों, शब्द प्रमाण नहीं हैं। यह नियम बड़ा स्पष्ट है। यदि इसके महत्त्व पर पूरा ध्यान दिया जाय तो आर्यसमाज की प्रवृत्तियां शाखाओं में बिखरने से बचाई जा सकती हैं। तीसरे और चौथे नियम में प्रधान और शाखा-भेद से आर्यसमाजों के दो भेद किये गए हैं। इन

नियमों में प्रतिनिधि सभा और सार्वदेशिक सभा आदि विस्तृत संगठनों की कल्पना है। पांचवां नियम समाज में संस्कृत और आर्यभाषा के पुस्तकालय की आवश्यकता बताता है और यह भी आशा दिलाता है कि आर्यसमाज की ओर से आर्य-प्रकाश नाम का साप्ताहिक पत्र निकलेगा। यह नियम तथा आगे के कुछ और नियम भी इन सम्पूर्ण नियमों को एकदेशी बना देते हैं। इन नियमों को बनाते हुए बम्बई की दशाओं को विशेषतया ध्यान में रखा गया था। सातवें नियम में केवल दो अधिकारी नियत करने का निर्देश है-एक प्रधान, दूसरा मन्त्री अभी उपप्रधान, उपमन्त्री आदि की रचना की आवश्यकता नहीं समझी गई। इस नियम का दूसरा भाग बड़े महत्त्व का है-पुरुष और स्त्री दोनों ही समाज के सभासद् बन सकेंगे। यह उदार नियम आर्यसमाजों में प्रायः उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता है। स्त्री-समाज अलग खोल दी जाय-इससे शायद उतनी हानि न हो, जितनी मुख्य आर्यसमाज से स्त्रियों का बहिष्कार करने से होती है। इसके परिणामस्वरूप स्त्रियों का दृष्टि-क्षेत्र बहुत संकुचित हो जाता है। उनका ज्ञान पूरी तरह बढ़ने नहीं पाता। वे अपनी नियत परिधि से बाहर नहीं निकलने पाती। यदि पुरुष और स्त्री एक ही धार्मिक संगठन में शामिल हों, इकट्ठे बैठें और कार्यकारिणी में मिलकर इकट्ठे ही आवश्यक विषयों पर विचार करें, तो इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि स्त्रियों के ज्ञान में बहुत वृद्धि हो, आर्यसमाज की शक्ति दुगुनी हो जाय और कार्य को पुष्टि मिले।

आठवां नियम आर्यसमाज के सभासद् की योग्यता का वर्णन करता है-इस समाज में सत्पुरुष, सदाचारी और परोपकारी सभासद् लिये जाएंगे। यद्यपि देखने में यह नियम छोटा और अपर्याप्त-सा दिखाई देता है, परन्तु आश्चर्य है कि इस नियम में महर्षि का हृदय स्पष्टता से प्रतिबिम्बित है। समाज का सभासद् सत्पुरुष हो, सदाचारी हो, अर्थात् आर्य आचरणों वाला हो। आर्य सभासद् बनने के लिए श्रेष्ठ आचरण को मुख्य माना गया है। वर्तमान 10 नियमों में सदाचार की चर्चा इतनी स्पष्टता से नहीं है। यही कारण है कि कभी-कभी करने की अपेक्षा मानने की महिमा अधिक बढ़ा दी जाती है। प्रारम्भिक नियम करने की महिमा अधिक मानते थे। दुराचारी, असत्पुरुष क्षणभर भी समाज का सभासद् नहीं रहना चाहिये-बम्बई वाले नियमों का यह सार है। 10वां नियम सातवें दिन सत्संग करने का आदेश करता है। पहले यह सत्संग शनिवार को होता था, बाद में अधिक अनुकूलता देखकर रविवार को होने लगा।

11वां नियम कार्यक्रम का प्रतिपादन करता है। कार्यक्रम में गान, मन्त्रपाठ,

मन्त्रों की व्याख्या आदि के अतिरिक्त परमेश्वर, सत्यधर्म, सत्यनीति, सत्योपदेश आदि का प्रतिपादन है। इस नियम में साप्ताहिक सत्संग के क्षेत्र-विस्तार का दिग्दर्शन करा दिया गया है। सत्यधर्म और सत्यनीति को पृथक् रखा गया है। सत्यधर्म, सिद्धान्त-रूपी धर्म और उसका व्यावहारिक प्रयोग सत्यनीति कहलाता है। आर्यसमाज में केवल सिद्धान्तों पर ही विचार न होगा, उनके व्यावहारिक प्रयोग पर भी विचार किया जाएगा। जो लोग यह समझते हैं कि आर्यसमाज में केवल मूल सिद्धान्तों पर ही विचार होता रहे, उनके व्यावहारिक प्रयोग पर कोई ध्यान न दिया जाय, वे 11वें नियम पर ध्यान देंगे तो उनका सन्देह दूर हो जाएगा। 12वें नियम में आय का शतांश चन्दे के रूप में देने का विधान रखा गया है और बताया गया है कि चन्दे की आय से आर्यसमाज, आर्य विद्यालय और आर्य समाचारपत्र चलाए जाएं। आर्य विद्यालय का विचार आर्यसमाज की आधारशिला रखने के साथ ही उत्पन्न हो गया था, यह कोई नया समारोह नहीं है। महर्षि जी का दृढ़ आशय प्रतीत होता है कि आर्य-पुरुषों की सन्तान को शिक्षित करने के लिए आर्य विद्यालय खोले जाएं। 16वां नियम आर्य विद्यालय के उद्देश्य को भी स्पष्ट करता है। उसमें आर्य विद्यालय का यह कार्यक्रम बताया गया है कि आर्य विद्यालय में वेदादि सनातन आर्ष ग्रन्थों का पठन-पाठन हुआ करेगा और वेदोक्त रीति से ही सत्य-शिक्षा सब पुरुष और स्त्रियों को दी जाएगी। इस नियम का अभिप्राय स्पष्ट है। आर्य-विद्यालय का उद्देश्य आर्यसन्तान को वैदिक शिक्षा देना समझा गया था, न कि केवल प्रचारक बनाना। 14वें और 15वें नियम में वैदिक स्तुति, प्रार्थना, उपासना के अतिरिक्त संस्कारों का करना आर्यमात्र के लिए आवश्यक बताया गया है। 17वां नियम बड़े महत्त्व का है। उसमें एक बड़ा उच्च सिद्धान्त बतलाया गया है। उस समय और शायद सदा प्रत्येक देश में दो प्रकार के विचारक रहे हैं। एक वे जो स्वदेश को सब भूमण्डल देशों में ऊंचा मानकर केवल उसी की भलाई को अपने जीवन का लक्ष्य मान लेते हैं। दूसरे वे जो विश्वहित के विचार को ऊंचा रखकर देश हित को एक संकुचित भाव मानते हैं। 17वें नियम में बड़ी सुन्दरता से दोनों को मिला दिया गया है। नियम यह है-

''इस समाज में स्वदेश के हितार्थ दो प्रकार की शुद्धि के लिए प्रयत्न किया जाएगा - एक परमार्थ, दूसरा व्यवहार इन दोनों का शोधन तथा संसार के हित की उन्नति की जावेगी।''

स्वदेश की उपेक्षा नहीं की गई, परन्तु उसका अन्तिम लक्ष्य संसार का हित करना रखा गया है। स्वदेश का हित प्रत्येक देशवासी का कर्तव्य है।

उसके लिए नि:श्रेयस और अभ्युदय, परमार्थ और व्यवहार दोनों ही आवश्यक हैं। केवल भारतवासी ही नहीं, सभी देशों के निवासियों के लिए यह नियम रखा गया है। सब अपने देश के हित में यत्नवान् हों, परन्तु देशहित का भी अंतिम लक्ष्य विश्व-हित हो। विश्व-हित की भावना के बिना स्वदेश-हित एक निर्मूल ममता है और स्वदेश हित के बिना विश्व-हित के साधन का यत्न चांद को पकड़ने के यत्न के समान है। 18 से 25 तक के नियम कार्यकर्त्ताओं को प्रबन्ध-सम्बन्धी निर्देश करते हैं। 26वें नियम में एक बहुत छोटी परन्तु महत्त्वपूर्ण बात है। जब तक आर्यसमाजस्थ नौकर मिलना सम्भव हो, तब तक बाहर का नौकर न रखा जाय। शेष नियमों में कोई विशेष साम्प्रदायिक बू नहीं है; परन्तु इस नियम में कुछ थोड़ा-सा साम्प्रदायिक भाव पाया जाता है। इतने उदार नियमों में यह कुछ अनुदार-सा प्रतीत होगा, परन्तु यदि इस दृष्टि से विचार किया जाय कि उनकी दशा सुधारने का एक यह भी उपाय है कि चाहे जाति में कोई हो, यदि वह आर्य बन गया हो तो उसे सेवक बनाने से किसी आर्य पुरुष को संकोच न हो तो समझ में आ जाएगा कि इसमें केवल साम्प्रदायिकता ही कारण नहीं है, सेवक समाज का हित भी कारण है। इस्लाम ने प्रारम्भ में गुलामों की दशा सुधारने का जो उद्योग किया था, उसे दृष्टि में रखते हुए इस नियम पर विचार किया जाय तो नियम के औचित्य पर विश्वास करना कठिन नहीं होगा। 28वें नियम में नियमों के घटाने-बढ़ाने के लिए सब श्रेष्ठ सभासदों का सलाह करना आवश्यक बताया गया है।

यह बम्बई के आर्यसमाज का संगठन है। इसमें सन्देह नहीं कि यह कई अंशों में अपूर्ण है। विशेषतया कार्य में आनेवाले व्यावहारिक नियमों का बहुत अभाव है। बहुसम्मति से निश्चय हो या सर्वसम्मति से नियम-परिवर्तन के लिए कितना बहुमत होना आवश्यक है; चुनाव कितने समय पीछे हों; इत्यादि व्यावहारिक बातें नियमों में से छूट गई है। यह भी नहीं कि यह केवल शुद्ध उद्देश्यों या मूल सिद्धान्तों का ही वर्णन हो, इसमें कई एक व्यावहारिक नियम विद्यमान हैं, परन्तु वे भी अपूर्ण और अस्पष्ट हैं। यह ठीक है, तो भी यह कहने में कुछ अत्युक्ति नहीं है कि इन नियमों में महर्षि जी के हृदय का आशय अधिक स्पष्टता से प्रतिबिम्बित है। उद्देश्य का संक्षेप में परन्तु बड़ी स्फुटता से प्रतिपादन है। शेष नियम भी महर्षि जी के आशय को बड़ी सुन्दरता से अभिव्यक्त करते हैं।

एक बात और है। इन नियमों पर ब्राह्मो समाज के संगठन का प्रभाव स्पष्ट है सिद्धान्तों का नहीं, अपितु कार्य सम्बन्धी व्यावहारिक संगठन का इसमें

कुछ आश्चर्य भी नहीं है। यह असन्दिग्ध बात है कि महर्षि जी के सिद्धान्तों का निर्माण बिल्कुल स्वतन्त्र रीति से हुआ था वह किसी के अनुकरण में नहीं था। वह एक ज्ञानी और पर्युत्सुक हृदय का विकास था, परन्तु प्रतीत होता है कि समाज के संगठन का विचार उतना अपेक्षारहित नहीं था।

बम्बई के निवासी महर्षि जी के पास गए और समाज की स्थापना के सम्बन्ध में निवेदन किया। जिन लोगों ने महर्षि जी को दिल्ली में निमन्त्रण दिया था, उनमें बहुत से प्रार्थना समाजी थे, और प्रार्थना समाज ब्राह्मसमाज की एक शाखामात्र था। उन्हीं लोगों ने महर्षि जी से समाज बनाने की प्रार्थना की और संगठन तैयार किया। ये बातें ध्यान में रखें तो संगठन की कई विशेषताएं समझ में आ जाती हैं। साप्ताहिक सत्संग, गृहस्थी प्रचारक आदि संस्थाएं, जो नई प्रतीत होती हैं, नई नहीं हैं। इन पर पहले का प्रभाव स्पष्ट है। कई लोगों का विचार होगा कि नियमों में पहले समाजों की प्रचलित प्रथाओं के प्रभाव को मान लेने से समाज का या इसके संस्थापक महापुरुष का महत्त्व कम हो जायगा। यह भ्रममात्र है। संस्थाएं और संगठन समय की सन्तानें हैं, वे तात्कालिक प्रभावों से बिल्कुल स्वतन्त्र नहीं रह सकते। उनका गौरव इसमें नहीं कि वे बिना जड़ के वृक्ष, बिना नींव के भवन या बिना ऋतु के फल हैं, बल्कि गौरव इसमें है कि वे समय की आवश्यकता को पूरा करते हैं, जाति की वास्तविक बीमारी का ठीक इलाज करते हैं, समय का ठीक आलाप सुनाते हैं। यद्यपि आर्यसमाज के व्यावहारिक संगठन पर ब्राह्मो समाज का प्रभाव था, तो भी हम अगले पृष्ठों में देखेंगे कि आर्यसमाज ब्राह्मो समाज की अपेक्षा अधिक समयानुकूल, जाति की आवश्यकताओं को पूरा करने वाला और उपयोगी था। इस कारण जाति ने उसे अधिक व्यग्रता से देखा, अधिक उत्सुकता और उत्साह से ग्रहण किया।

काठियावाड़ और पूना में, इन लगभग 5 महीनों में खूब प्रचार हुआ। बम्बई तो स्वामी जी के प्रचार से हिल गया। वल्लभ-सम्प्रदाय के गुरु शंकाओं से घबराकर बम्बई छोड़ने तक को बाध्य हो गए। मूर्तिपूजा के बेतरह खण्डन से ब्राह्मण-मण्डली विचलित हो गई। प्रजा के तंग करने से मण्डली को एक बार शास्त्रार्थ का आयोजन भी करना पड़ा। पहला शास्त्रार्थ बम्बई के पुस्तकालय में हुआ। दूसरा शास्त्रार्थ महर्षि जी के काठियावाड़ से लौटकर फिर बम्बई आने पर, होकाभाई जीवन जी के मकान पर पं० रामलाल जी शास्त्री के साथ हुआ। दोनों में विवाद का विषय यह था कि मूर्तिपूजा वेदों में है या नहीं ? जहां बनारस की पंडित मण्डली के पांव उखड़ गए, वहां

बम्बई के शास्त्री क्या कर सकते थे? मूर्तिपूजा वेदों से सिद्ध न हो सकी। महर्षि जी जब बम्बई से कुछ दिनों के लिए बड़ौदा गए हुए थे, तब पं० कमलनयन शास्त्री ने शास्त्रार्थ का हल्ला किया। महर्षि जी बम्बई लौट आए। काउसजी फ्रामजी हॉल में शास्त्रार्थ हुआ। बम्बई में ईसाइयों के साथ भी कुछ झपट हुई। बड़े पादरी विलसन साहब विद्वान् पुरुष थे। महर्षि जी ने उन्हें धर्म-विचार के लिए आमन्त्रित किया। कोई उत्तर न पाकर महर्षि जी स्वयं पादरी साहब के पास पहुंचे, परन्तु फिर भी उन्हें धर्म-विचार के लिए तैयार न कर सके। बड़े आदमियों को कोई-न-कोई कार्य सदा ही रहा करते हैं। महर्षि जी के साथ धर्म-विचार जैसी अप्रिय परीक्षा से, पादरी साहब को वैसे ही एक आवश्यक कार्य ने छुटकारा दिला दिया।

गुजरात में भ्रमण करते हुए महर्षि जी ने सूरत, भड़ौच आदि में धर्मप्रचार किया, आर्य पुरुषों में नए जीवन का संचार किया। भड़ौच से महर्षि जी दिसम्बर मास में अहमदाबाद गए। साबरमती के किनारे माणिकेश्वर महादेव के मन्दिर में महर्षि जी का निवासस्थान था। अहमदाबाद में भी पण्डित मण्डली से शास्त्रार्थ हुआ। बड़ा उत्तम प्रभाव रहा, और शीघ्र ही वहां आर्यसमाज की स्थापना हो गई। ट्रेनिंग कॉलेज राजकोट के प्रिन्सिपल श्री हरगोविन्ददास जी के आमन्त्रण पर महर्षि जी राजकोट गए। राजकोट से फिर अहमदाबाद ठहरते हुए आप वलसाड़ और बसई पधारे। इस प्रकार थोड़े ही समय में प्रान्त के बड़े-बड़े स्थानों पर धर्मामृत-वर्षा कर आप जनवरी में बम्बई लौट गए। आर्यसमाज की स्थापना इसी अवसर पर हुई। बम्बई से फिर अहमदाबाद होते हुए महर्षि जी बड़ौदा पधारे।

बम्बई में महर्षि जी ने संस्कार विधि और आर्याभिविनय तैयार कराकर छपवा दिये थे। ग्रन्थ- प्रकाशन का कार्य जोरों से जारी हो चुका था। सत्यार्थप्रकाश और संस्कार विधि ये दो बड़े आर्यसमाज के मूलभूत ग्रन्थ तैयार हो चुके थे, और वेदभाष्य के प्रकाशित होने की तैयारियां हो रही थीं। आर्याभिविनय, वेदान्तध्वान्तनिवारण आदि अनेक छोटी-छोटी पुस्तिकाएं बीच-बीच में आवश्यकतानुसार प्रकाशित होती रहती थीं।

बड़ौदा में महर्षि जी राज्य के अतिथि थे। आपका आसन विश्वामित्री नदी के किनारे महादेव जी के मन्दिर में जमा। वहां आपके अनेक व्याख्यान हुए। व्याख्यानों में दीवान आदि ऊंचे राज्याधिकारी उपस्थित होते थे। पण्डित-मण्डली भी व्याख्यानों में आती थी। श्रोता सभी जातियों के होते थे। जब महर्षि जी वेद मन्त्रों का सस्वर उच्चारण करते थे, तब पण्डित लोग कानों

में उंगली देकर भागने को तैयार हो जाते थे। कहते हैं कि बड़ौदा में पण्डितों के साथ एक शास्त्रार्थ का प्रसंग चलने पर, नमूना दिखाने के लिए महर्षि जी ने कुछ समय तक कठिन संस्कृत भी बोली थी, जिसे पण्डित लोग न समझ सके। सामान्यतया महर्षि जी का संस्कृत बोलने का ढंग बहुत ही सरल था। वह बड़ी सरल भाषा का प्रयोग किया करते थे। जिन्हें संस्कृत में कुछ भी प्रवेश था, वे उनके आशय को समझ जाते थे। पण्डितों के आग्रह पर यहां महर्षि जी ने कुछ समय तक कठिन संस्कृत का भी भाषण किया, जिससे आक्षेपकर्ताओं के मुंह बन्द हो गए। राजदीवान माधवराव की प्रार्थना पर महर्षि जी ने राजधर्म पर भी एक व्याख्यान दिया जिसमें अंग्रेजी न जानने वाले पण्डित के मुख से राजनीति के गम्भीर सिद्धान्तों की व्याख्या सुनकर ऊंचे अधिकारी दंग रह गए। बड़ौदा से महर्षि जी को पं० कमलनयन से शास्त्रार्थ करने के लिए फिर बम्बई जाना पड़ा।

1875 ई० के जुलाई मास के आरम्भ में प्रसिद्ध सुधारक श्रीयुत महादेव गोविन्द रानडे के निमन्त्रण पर महर्षि जी पूना गए। पूना महाराष्ट्र का केन्द्र है, और सनातन धर्म का गढ़ है। पूना के ब्राह्मण राज्यों की स्थापना कर चुके हैं और राजाओं का शासन कर चुके हैं, उनसे भिड़ना साहस का कार्य था। पूना में महर्षि जी के 15 बड़े प्रभावशाली व्याख्यान हुए। ये व्याख्यान संग्रह-रूप में छप भी चुके हैं। पूना गढ़ में इन व्याख्यानों के प्रहारों ने हलचल मचा दी। रानडे महाशय के उद्योग से शहर में महर्षि जी की सवारी निकली। एक पालकी में रखे हुए वेद आगे-आगे थे और महर्षि जी को लिये हाथी पीछे-पीछे था। सवारी बड़े धूमधाम से निकली। इसके जवाब में विरोधियों ने, जिनमें कई महाराष्ट्र के रत्न भी शामिल थे, गर्दभानन्द आचार्य की सवारी निकाली। एक आदमी का मुंह काला करके गधे पर बिठा दिया, ताली पीटते और कीच फेंकते हुए लोग साथ जाने लगे। बड़ा हुल्लड़ मचता रहा। महर्षि जी और उनके साथियों पर कीच फेंका गया। रानडे महाशय पर भी बहुत-सा कीच पड़ा। विरोधियों ने समझा कि वे इस प्रकार से सत्यवादी के मुंह को सी सकेंगे, परन्तु उन्हें पता नहीं था कि वह मोम नहीं था, जो हाथ से मुड़ जाता। इस व्यवहार से महर्षि जी का तो क्या अपमान होना था, उल्टा आज तक भी उन्हीं महानुभावों के शुभ कीर्तिचन्द्र पर कालिमा का एक धब्बा लगा हुआ है, जो और सब प्रकार से आदर के योग्य हैं।

दिल्ली - दरबार में और पंजाब की ओर

1 जनवरी 1877 ई० को दिल्ली में महारानी विक्टोरिया के भारत की महारानी उद्घोषित होने के उपलक्ष्य में भारी दरबार होने को था। उसकी तैयारियां धूमधाम से हो रही थीं। दिल्ली में देशभर के राजे-महाराजों के आने की आशा लग रही थी। महर्षि दयानन्द जी बम्बई से लौटकर संयुक्तप्रान्त में भ्रमण कर रहे थे; उन्हें दरबार के समाचार मिले। जो व्यक्ति संसारभर को सत्य की बात सुनाने का बीड़ा उठाए हुए हो, उसे इससे अच्छा अवसर कहां हाथ आ सकता था ! महर्षि जी के लिए मुख्यतः दो प्रलोभन थे। एक तो उनकी प्रबल इच्छा थी कि वह आर्यावर्त के राजाओं के हृदय में सच्चे आर्य धर्म के लिए प्रेम पैदा करने में सफल हों। उनकी भावना थी कि जब तक देश के रईस नहीं सुधरते, तब तक प्रजा का सुधार नहीं हो सकता। यदि किसी प्रकार रईसों की दशा सुधारी जा सके तो सर्वसाधारण की दशा में बिना विशेष परिश्रम के ही परिवर्तन किया जा सकता है। इस कारण उनकी अभिलाषा थी कि किसी प्रकार देशभर के नरेशों के कानों तक सत्य का सन्देश पहुंचाया जाय। दरबार की ओर खींचनेवाला दूसरा प्रलोभन यह था कि महर्षि जी देश में कार्य करनेवाली अनेक शक्तियों को देख रहे थे। एक ओर ब्राह्मोसमाज था, जिसकी बागडोर उस समय बाबू केशवचन्द्र के हाथ में थी । दूसरी ओर सर सय्यद अहमद की चलाई हुई लहर थी, जिसका उद्देश्य मुसलमानों को जगाना था। शक्तियां अनेक थीं, परन्तु सबका उद्देश्य एक ही दिखाई देता था। एक ही सचाई का भिन्न-भिन्न रूप से प्रकाश हो रहा था। महर्षि जी की प्रतिभा केवल भेदों को देखनेवाली और काट-छांट करनेवाली न थी, वह बड़े-से-बड़े भेद में समानता देखने की शक्ति रखती थी। महर्षि जी भेद-प्रवृत्ति को ही उत्पन्न नहीं करना चाहते थे, बुराइयों के दूर हो जाने पर बची हुई भलाई के आधार पर सारी मनुष्य जाति को एकता के सूत्र में पिरो देने का भी संकल्प रखते थे। सत्यार्थप्रकाश का निम्नलिखित उद्धरण महर्षि जी के आशय को प्रकट करेगा-

''(जिज्ञासु) इसकी परीक्षा कैसे हो?''

(आप्त) तू जाकर इन-इन बातों को पूछ, सबकी एक सम्मति हो जाएगी। तब वह उन सहस्रों की मण्डली के बीच में खड़ा होकर बोला कि

सुनो सब लोगो ! सत्य भाषण में धर्म है वा मिथ्या में ? सब एक स्वर होकर बोले कि 'सत्य भाषण में धर्म और असत्य भाषण में अधर्म है। वैसे ही विद्या पढ़ने, ब्रह्मचर्य करने, पूर्ण युवावस्था में विवाह, सत्संग, पुरुषार्थ, सत्य व्यवहार आदि में? सबने एकमत होकर कहा कि विद्यादि के ग्रहण में धर्म और अविद्यादि के ग्रहण में अधर्म। तब जिज्ञासु ने सबसे कहा कि तुम इसी प्रकार सब जने एकमत हो सत्यधर्म की उन्नति और मिथ्या मार्ग की हानि क्यों नहीं करते हो?'

इससे स्पष्ट है कि महर्षि जी केवल मत-मतान्तरों के भेद को दिखाकर विरोधात्मक संसार की रचना करनेवाले नहीं थे। उनका संकल्प था कि सर्वसम्मत व्यापक सच्चाइयों के आधार पर संसारभर का एक धर्म स्थापित किया जाय। दिल्ली के दरबार में भारतवर्ष के सब धार्मिक सुधारकों के इकट्ठे होने की आशा थी। महर्षि जी को यह अवसर बहुत उत्तम प्रतीत हुआ। जो लोग महर्षि जी को संकुचित सम्प्रदाय के संस्थापक के रूप में प्रकट करना चाहते हैं, वे यदि इस उद्धरण और ऋषि जीवन के इस भाग को ध्यान से पढ़ेंगे तो उनका सन्देह दूर हो जाएगा।

दिसम्बर मास के अन्त में महर्षि दयानन्द जी दिल्ली पहुंच गए, और शेरमल के अनारबाग में डेरा जमाया। मुन्शी इन्द्रमणि आदि हितैषी लोग महर्षि जी के साथ ही ठहरे थे। इन दिनों महर्षि जी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पूर्ण कर चुके थे और वेद भाष्य लिखाते थे। प्रचार का कार्य प्रतिदिन होता था। राजा-महाराजाओं के पण्डित, महर्षि जी के पास आते रहते थे। महर्षि जी ने अपने विचारों की सूचना प्रायः सब राजाओं के पास भेज दी थी। उन लोगों के हृदय में भी महात्मा के दर्शनों की इच्छा उत्पन्न होती थी, परन्तु ब्राह्मण पीछे से रोकते रहते थे। वे बहकाने और महर्षि जी को नास्तिक बतलाकर दर्शनजन्य पाप के चित्र खींचने में लगे रहते थे। इन्द्रौर-नरेश ने यत्न किया था कि एक सभा में सब नरेश इकट्ठा हों और महर्षि जी के सिद्धान्तों का श्रवण करें। दिल्ली में राजा लोग सरकारी प्रोग्राम से ही छुट्टी नहीं पा सकते थे, उन्हें धर्मोपदेश सुनने की फुर्सत कहां ? कभी लाट साहब की हाजिरी, कभी फौज का निरीक्षण, कभी जुलूस, कभी थियेटर- इनसे फुर्सत पाना ही कठिन होता था। अतः राजाओं का जमाव न हो सका। महर्षि जी का विचार था कि देश के रईसों का कुछ सुधार कर सकें; कम-से-कम उनके कानों तक धर्म की ध्वनि पहुंचा दें, परन्तु कुछ देश का दुर्भाग्य और कुछ रईसों का कर्मफल- विचार फलीभूत न हो सका।

दरबार के अवसर पर पहुंचने में महर्षि जी का दूसरा लक्ष्य यह था कि देश के भिन्न-भिन्न धार्मिक नेताओं को इकट्ठा करके परामर्श किया जाय और यदि सम्भव हो तो कोई ऐसा महानद ढूंढ लिया जाय, जिसमें सब सम्प्रदायरूपी नाले मिला दिए जायें। सब सुधारक एक ही प्रकार से, एक ही स्वर से एकता का यत्न करें, ताकि जो लोग प्रजा का सुधार कर रहे हैं वे आपस में मतभेद के कारण झगड़ते हुए दृष्टिगोचर न हों। महर्षि जी के निमंत्रण पर बाबू केशवचन्द्र सेन, सर सय्यद अहमद खां, मुन्शी कन्हैयालाल अलखधारी, बाबू नवीनचन्द्र राय, मुन्शी इन्द्रमणि और बाबू हरिश्चन्द्र चिन्तामणि आदि महानुभाव महर्षि जी के स्थान पर एकत्र हुए। बाबू केशवचन्द्र सेन उस समय ब्राह्मसमाज के चमकते सितारे थे। नवविधान अभी विख्यात नहीं हुआ था, परन्तु समाज की बागडोर उन्हीं के हाथों में थी । ब्राह्मोसमाज के दूसरे प्रतिनिधि बाबू नवीनचन्द्र राय थे। राय महाशय पंजाब के ब्राह्मोसमाज के प्राण थे। 19वीं सदी में इस्लाम ने सर सय्यद की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली नेता उत्पन्न नहीं किया। सर सय्यद का बल तलवार का नहीं था- लेखनी का था, जिह्वा का था और बुद्धि का था। भारत के मुसलमानों को आपने नींद से उठाकर खड़ा कर दिया था। मुन्शी कन्हैयालाल अलखधारी सुधार का यत्न कर रहे थे और मुन्शी इन्द्रमणि मुसलमानों द्वारा हिन्दू धर्म पर किये हुए आक्षेपों का समाधान करके ख्याति पा रहे थे। बाबू हरिश्चन्द्र चिंतामणि उस समय बम्बई के प्रसिद्ध आर्यसमाजी थे। इस प्रकार वह छोटी-सी सभा प्रतिनिधि स्वरूप समझी जा सकती थी। इसमें बंगाल, बम्बई, संयुक्त प्रान्त और पंजाब के तथा दूसरी तरफ इस्लाम, ब्राह्मोसमाज, हिन्दू समाज और आर्यसमाज के प्रतिनिधि विद्यमान थे। सभा में महर्षि जी ने अपना विचार उपस्थित किया। विचार का सार यह था कि देश का अभ्युदय और मनुष्य का कल्याण तब तक नहीं हो सकता, जब तक देशभर का एक धर्म न हो जाय। वह एक धर्म वैदिक धर्म है। यदि उस पर कोई आक्षेप या शंका हो तो महर्षि जी ने उसके समाधान के लिए अवसर देने की इच्छा प्रकट की। दु:ख है कि इस सभा की पूरी कार्रवाई कहीं भी प्राप्त नहीं होती। यह सभा गुप्त ही समझी गई होगी, क्योंकि उस समय के समाचारपत्रों में भी इसका कोई विस्तृत वर्णन नहीं पाया जाता। प्रतीत होता है। कि सभा का जहाज वेद की निर्दोषता पर आकर टकराया। ब्राह्मोसमाजी और मुसलमान वेद की ईश्वरीयता और निर्दोषता को नहीं मान सके, इस कारण सभा विशेष परिणाम उत्पन्न किये बिना ही समाप्त हो गई।

सभा के सन्मुख मुख्य कठिनाई वेद-सम्बन्धी थी यह अनुमान एक और घटना से भी पुष्ट होता है। बाबू केशवचन्द्र सेन ने दिल्ली में महर्षि जी से यह भी कहा था कि यदि आप वेद के नाम से धर्मप्रचार करने की जगह यह कहा करें कि मैं कहता हूं कि यह धर्म है तो लोग अधिक सुगमता से विश्वास कर लें और आपको अधिक सफलता हो। महर्षि जी ने इसका जो उत्तर दिया होगा, उसकी कल्पना ही की जा सकती है। एक मुसलमान और फिर कट्टर मुसलमान यह मान ले कि वेद ईश्वर की ओर से आए हैं और निर्दोष हैं- यह कैसे सम्भव था ? यह समझ लेना कठिन नहीं है कि वेद के आधार पर धर्म की एकता करने के यत्न में बाबू केशवचन्द्र सेन या सर सय्यद अहमद खां से सहायता पाने के उद्देश्य से जो सभा की गई थी, वह क्यों असफल हुई।

दरबार की समाप्ति पर महर्षि जी ने दिल्ली से प्रस्थान किया। आप मेरठ होते हुए सहारनपुर गए। वहां महर्षि जी को सूचना मिली कि चांदपुर (जिला शाहजहांपुर) में भारी धार्मिक मेला है, जिसमें ईसाई और मुसलमान विद्वान् भी आएंगे और निर्णय होगा कि कौन-सा धर्म सच्चा है। मेले के संस्थापकों का निमंत्रण पहुंचते ही महर्षि जी ने उसे स्वीकार कर लिया।

मेला 18 मार्च सन् 1877 से 20 मार्च सन् 1877 तक होने को था। मेले से 5 दिन पूर्व महर्षि जी चांदपुर पहुंच गए। 18 और 19 मार्च को मुसलमानों और ईसाइयों के प्रतिनिधि, बड़े-बड़े मौलवी और पादरी भी आ पहुंचे। इस मेले का नाम आनन्दस्वरूप मेला था, और उद्देश्य धर्माधर्म का निर्णय था। यहां के कई रईसों ने ईसाई पादरियों के आक्रमणों से तंग आकर इस मेले का संगठन किया था, ताकि सत्य और असत्य का निर्णय एक ही बार हो जाय। धर्म-चर्चा आरम्भ होने से पहले कई लोग श्री महर्षि जी के पास आकर निवेदन करने लगे कि उत्तम हो यदि मुसलमान और हिन्दू आपस में मिलकर ईसाइयों को नीचा दिखाएं। महर्षि जी धर्म और सत्य में राजनीति और सुलहनामे की चालों को नहीं जानते थे। उनका उत्तर स्पष्ट था। उन्होंने कहा-उचित मालूम होता है कि कोई किसी का पक्षपात न करे, बल्कि मेरी समझ में तो यह अच्छी बात है कि हम और मौलवी साहब और पादरी साहब प्रीति से मिलकर सत्य का निर्णय करें। किसी से विरोध करना उचित नहीं है। इस मेले में जहां अन्य सम्प्रदाय वालों का उद्योग था कि किसी प्रकार विरोधी को नीचा दिखाया जाय, वहां महर्षि जी के हृदय में यह इच्छा प्रज्वलित हो रही थी कि सब लोग सत्य धर्म को समझ जाये।

दो दिन तक शास्त्र चर्चा होती रही। मुसलमानों की ओर से देवबन्द के मदरसे के प्रसिद्ध मौलवी मुहम्मद कासिम और देहली के मौलवी सैय्यद अब्दुल मन्सूर, ईसाइयों की ओर से पादरी स्कॉट, पादरी नवल, पादरी पाकर, आर्य पुरुषों की ओर से महर्षि दयानन्द और मुन्शी इन्द्रमणि थे। कबीरपन्थी लोग तो इस मेले के संचालक ही थे। यह मेला एक अपूर्व ढंग का था। विचार भी उत्तम हुआ। पहले दिखाई देता था कि चर्चा के केन्द्र भूत ईसाई पादरी होंगे। समझा जाता था कि बेचारा हिन्दू धर्म क्या खड़ा हो सकता है ? परन्तु महर्षि जी की एक चौमोहरी चलते ही जनता की आंखें उधर फिर गई। सबने समझ लिया कि इस अखाड़े का प्रधान मल्ल यह संन्यासी ही होगा। सर्व साधारण पर महर्षि जी के प्रमाण और युक्तियों से सुभूषित भाषणों का खूब असर हुआ। पादरियों और मौलवियों को उस मेले में चेतावनी मिल गई कि आर्यधर्म एक जीवित पदार्थ है, मुर्दा नहीं। इस मेले पर धर्म की तुरही सुनाकर धर्मयुद्ध के महारथी ने पंजाब की ओर प्रस्थान किया। पहला पड़ाव लुधियाना में हुआ। 31 मार्च से 18 अप्रैल तक लुधियाना में धर्मोपदेश करके महर्षि जी 19 अप्रैल को लाहौर पहुंचे और दीवान रत्नचन्द्र के बाग में डेरा जमाया। सायंकाल को बावली साहब में वैदिक धर्म पर व्याख्यान हुआ। उस व्याख्यान में पौराणिक लोगों के लिए बहुत कुछ गर्म मसाला था। वे लोग बहुत असन्तुष्ट हुए, और दीवान रत्नचन्द्र पर दबाव डाला गया कि वह महर्षि जी की अपने बाग से उठा दें। महर्षि जी को एक हिन्दू कुलोत्पन्न व्यक्ति का स्थान छोड़कर डॉ० रहीम खां की कोठी पर आसन जमाना पड़ा। इसके पीछे खूब प्रचार हुआ। पंजाब का हृदय खूब नर्म है, उस पर प्रभाव डालना सरल है। गुरु नानक को पंजाब के सर कर लेने में अधिक कष्ट नहीं हुआ था। पंजाबियों के हृदय प्रभाव को शीघ्र ले लेते हैं और फिर उसके अनुसार क्रिया और प्रतिक्रिया के आरम्भ होने में भी देर नहीं लगती। पंजाबी के सोचने और करने में थोड़ा ही अन्तर है। अन्य प्रान्तों के लोग समझ ही नहीं सकते कि एक पंजाबी ने कब सोचा, कब कहा और कब किया। जितनी देर में उनका सोचना समाप्त होता है, उतने में पंजाबी कर डालता है। एक सुधारक को इससे अच्छा मैदान कहां मिल सकता है? महर्षि जी पंजाब में बहुत पीछे गए, परन्तु उन्हें वहां आशातीत सफलता हुई। उस सफलता में पहला कारण पंजाबियों के हृदयों की ग्रहणशीलता थी। दूसरा कारण यह भी था कि भारत के सीमाप्रान्त पर होने के कारण अधिक कट्टरपन या संकुचितता उनमें पहले से नहीं थी। महर्षि जी की दिव्यवाणी ने पंजाबियों के नर्म हृदयों

पर बिजली का सा असर किया। अन्य प्रान्तों में वह जो कार्य महीने में न कर सके, पंजाब में उसे सप्ताहों में कर दिया।

जिस समय महर्षि जी पंजाब में आए, ईसाई पादरी पकी खेती को दोनों हाथों काट रहे थे। पंजाब का शिक्षित समाज ईसाइयों के पंजे में पड़ रहा था। थोड़ा-थोड़ा काम ब्राह्मोसमाज भी कर रहा था। कुछेक पठित लोग इकट्ठे होकर ब्राह्मोप्रार्थना भी कर लेते थे। महर्षि को पंजाब में विशेष युद्ध ईसाइयों से ही करना पड़ा। जहां कहीं भी वह गए, कई हिन्दू युवकों को ईसाई होने से बचाया। आर्यसमाज से ईसाइयों का विद्वेष-भाव, जिसने बाद में बड़ा भयानक रूप पकड़ा और गम्भीर परिणाम उत्पन्न किये, इसी समय से आरम्भ होता है। ईसाई पादरी आर्यसमाज की बढ़ती को न सह सके; उन्होंने समझा कि आर्यसमाज उनके मुंह से ग्रास छीनकर ले गया। पंजाब में महर्षि दयानन्द के आने और सफलता पाने के विषय में सबसे उत्तम यही वाक्य प्रयुक्त किये जा सकते हैं कि वह आए, उन्होंने देखा, और जीत लिया।

महर्षि जी के हृदय में सत्य का जो स्थान था, वह दूसरी किसी वस्तु का नहीं था। जिसे वह सत्य समझते थे, उस पर सब कुछ न्यौछावर करने को तैयार थे। आप पहले दीवान रत्नचन्द्र के बंगले में ठहराए गए। महर्षि के व्याख्यानों से दीवान साहब असंतुष्ट हो गए। महर्षि जी ने उनका स्थान छोड़ दिया, परन्तु बात नहीं छोड़ी। आपको लाहौर में निमंत्रित करनेवालों में बहुत से ब्राह्मो समाजी सज्जन थे। महर्षि जी के वेद-सम्बन्धी व्याख्यानों से ब्राह्मो समाजी असन्तुष्ट हो गए। पं० शिवनारायण अग्निहोत्री, जो बाद में सत्यानन्द अग्निहोत्री बनकर, और संन्यस्त दशा में ही नया विवाह करके ईश्वर के स्थानापन्न 'देवगुरु भगवान्' होने का दावा करनेवाला बना, उस समय ब्राह्मो समाज का प्रचारक था। वह वेदों के विषय में निर्मूल आक्षेप करने में अगुआ था। एक दिन कई सज्जनों की उपस्थिति में वह महर्षि जी से कहने लगा कि सामवेद ईश्वरीय नहीं हो सकता। उसमें तो उल्लू की कहानी लिखी है। स्वामी जी ने सामवेद की पुस्तक सामने रखकर कहा- इसमें से उल्लू की कहानी निकालकर दिखाओ! ब्राह्मो समाजी वेदों को निर्भ्रान्त नहीं मानते थे, परन्तु उनकी पाश्चात्य विद्वानों द्वारा की हुई टीकाओं को अवश्य निर्भ्रान्त मानते थे। अग्निहोत्री जी ने निर्भ्रान्त टीका के आधार पर ही वेदों को भ्रान्त बतलाया था। मूल वेद में से वह कुछ भी न निकाल सके- केवल पन्ने पलटने लगे। महर्षि जी ने उन्हें शर्मिन्दा किया। ऐसी बातों से ब्राह्मो समाजी असंतुष्ट हो गए और महर्षि जी के डेरे को आर्थिक सहायता देनी बंद कर दी। तब पण्डित मनफूल जी की ओर से टहल-सेवा होने लगी।

पण्डित मनफूल जी के विचार तो उत्तम थे, परन्तु महर्षि जी के मूर्तिपूजा-खण्डन से वह भी कुछ घबरा गए। उधर कश्मीर नरेश की ओर से महर्षि जी को फिर संदेश आया। दिल्ली में भी उन्हें संदेशा मिला था। नरेश ने महर्षि को कश्मीर में निमंत्रण दिया था। महर्षि जी ने उत्तर में कहलवा भेजा था कि- कश्मीर राज्य में राजा की ओर से बनवाए हुए बहुत से मंदिर हैं। मैं मूर्तिपूजा का खण्डन करूंगा, इससे राजा को दु:ख होगा। लाहौर में पण्डित मनफूल जी ने फिर महर्षि जी के सम्मुख वही विषय रखा। निवेदन किया कि यदि आप मूर्तिपूजा का खण्डन छोड़ दें तो महाराज कश्मीर भी आपको बुला लें। उस समय महर्षि जी ने जो उत्तर दिया, वह उनके महत्त्व का सूचक है। उससे ज्ञात होता है कि महर्षि दयानन्द साधारण मिट्टी से नहीं बने थे; वह उसी फौलाद से बने थे, जिससे बुद्ध, ईसा, मुहम्मद या लूथर का निर्माण हुआ था। आपने कहा- मैं लोगों को या महाराज कश्मीर को प्रसन्न करूं या ईश्वरीय आज्ञा का पालन करूं? इस उत्तर से पण्डित मनफूल जी का संकुचित हृदय और भी खिन्न हो गया। महर्षि जी के हृदय की गहराई को पहचानने के स्थान पर उन्होंने इस उत्तर में अपना अधिक्षेप समझा।

शीघ्र ही शहर के शिक्षित समाज में हलचल पैदा हो गई। पंजाबियों के कोमल हृदयों पर ऋषि की दी हुई चोटों का असर होने लगा। आर्यसमाज की स्थापना का निश्चय हो गया। यहां बम्बई में प्रचारित किए हुए नियमों का संशोधन किया गया, और नियम तथा उपनियम जुदा कर दिये गए। आर्यसमाज के सभासद् बनने के लिए केवल 10 नियमों को मानना ही पर्याप्त समझा गया। बम्बई के नियम बहुत विस्तृत थे, लाहौर के नियम बहुत संक्षिप्त बनाए गए।

10 नियमों का निर्धारण, आर्यसमाज की स्थापना और वृद्धि का एक खास पड़ाव है। यह नहीं समझना चाहिये कि नए नियम संस्कार में कोई विशेष कारण या उद्देश्य नहीं था। इतना समझ लेने से पूरा महत्त्व सूचित नहीं होता कि किन्हीं एक या एक से अधिक व्यक्तियों ने अपनी सम्मतियों का प्रभाव डालकर यह परिवर्तन करवाया। नियमों का संस्करण संगठन की एक विशेष मंजिल है। यह एक विशेष घटना है, जिसके कारणों और फलों पर विचार करना चाहिये। महर्षि दयानन्द के जीवन में ये नियम संस्कार एक विशेष मानसिक फैलाव को सूचित करते हैं, और इस ग्रन्थ के लेखक का विचार है कि इस फैलाव को ध्यान में रखते हुए महर्षि दयानन्द को केवल सुधारक संन्यासी न मानकर आर्य जाति का भविष्यदर्शी, परमात्मा के सार्वभाम सन्देश को सुनाने वाला महर्षि माना जाय और महर्षि जी के लिए इसी शब्द का प्रयोग किया जाय।

नियमों की दृढ नींव

आर्यसमाज के नियमों का दूसरा संस्करण करने का क्या निमित्त था, यह एक आवश्यक प्रश्न है। महर्षि दयानन्द ने बम्बई के नियमों में परिवर्तन की आवश्यकता समझी- यह बिना निमित्त के नहीं हो सकता। परिवर्तन की आवश्यकता का प्रथम प्रयोजन यह प्रतीत होता है कि नियमों को कुछ अधिक स्पष्ट कर दिया जाय। बम्बई के नियमों में न जाने क्या-क्या मिला हुआ था-आर्यसमाज का उद्देश्य, सभासदों की योग्यता, समाज का संगठन, अधिवेशनों की कार्यवाही, समाचारपत्रों का निकालना आदि गौण और मुख्य, व्यापक और स्थानीय, सभी प्रकार की बातें मिलाकर धर दी गई थीं। आवश्यक था कि मुख्य को गौण से तथा व्यापक को स्थानीय से जुदा कर दिया जाय। लाहौर के दस नियमों में केवल उन्हीं बातों के समावेश का यत्न किया गया, जो मुख्य और व्यापक हैं। बम्बई के नियमों का 19वां नियम कहता है कि इस समाज की ओर से श्रेष्ठ विद्वान् लोग सर्वत्र सदुपदेश करने के लिए भेजे जावेंगे- यह एक गौण नियम है। यह प्रत्येक समाज की शक्ति पर अवलम्बित है कि वह प्रचार के लिए उपदेशकों को बाहर भेज सकता है या नहीं। हरेक समाज के लिए यह नियम नहीं बन सकता कि वह उपदेशक रखकर प्रचार करावे। इस प्रकार के नियम लाहौर में स्वीकृत नियमों में से निकाल दिये गए।

लाहौर में स्वीकृत नियम व्यापक हैं। उनमें विचारों की अधिक उदारता पाई जाती है। उनके निर्माता का दृष्टि-क्षेत्र विस्तृत हो गया है। बम्बई वाले नियम बम्बई के उस समय के सामान्य विचारों के प्रतिबिम्ब थे; लाहौर वाले नियम हृदय तथा प्रतिभा के विकास को सूचित करते हैं। बम्बई वाले नियमों में ईश्वर के स्वरूप का प्रतिपादन नहीं, लाहौर वाले नियम वस्तुतः ईश्वर-विश्वास को ही सब विश्वासों का आधार मानकर चले हैं। उनमें आर्यसमाज का भवन ईश्वर-विश्वास की मजबूत नींव पर रखा गया है। लाहौर के संस्कृत परिष्कृत नियम सिद्ध करते हैं कि महर्षि दयानन्द अन्य सब विश्वासों की अपेक्षा ईश्वर-विश्वास को अधिक आवश्यक समझते थे। बहुत-सी बुराइयों की जड़ वह ईश्वर-सम्बन्धी उल्टे विचारों को ही मानते थे। उन्होंने अपने जीवन का एक विशेष उद्देश्य यह बना रखा था कि लोगों

के ईश्वर-सम्बन्धी विचारों का सुधार किया जाय। बम्बई में बने नियमों में यह अच्छी तरह नहीं सूचित होती थी, लाहौर में यह त्रुटि पूरी कर दी गई। उद्देश्य पर ध्यान दें, तो भी व्यापकता की वृद्धि पाई जाती है। छठा नियम है, संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना। उद्देश्यों में से स्थानीयता निकल गई है। महर्षि का दृष्टिक्षेत्र विस्तृत हो गया है। वह आर्य जाति का सुधार इसलिए नहीं करना चाहता कि वह केवल आर्य जाति की भलाई चाहता है; वह आर्य जाति को सुधारकर संसार के उपकार का साधन बनाना चाहता है।

तीसरा भेद, जिसकी ओर ध्यान देना आवश्यक है, यह है कि ईश्वरीय ज्ञान की व्याख्या अधिक विस्तृत और उदार हो गई है। पहला नियम बताता है कि सब सत्य विद्या और जो पदार्थ सत्य विद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदि मूल परमेश्वर है- कितनी उदार और संकोचहीन व्याख्या है! ईश्वर के ज्ञान की सीमाएं नहीं बांधी गईं। सर्वज्ञ और असीम भगवान् के ज्ञान के चारों ओर रेखा खेंची भी नहीं जा सकती। सब सत्य विद्या का आदि मूल परमेश्वर है- विद्या-रूपी वृक्ष का तना है, शाखाएं हैं, पत्ते, फूल और फल सब हैं; परमात्मा उनका आदि-मूल है। आदि-मूल तभी हो सकता है, जब वृक्ष की सम्भावना मान ली जाय। इस प्रकार अपरिमित ज्ञान रूपी कल्पवृक्ष का मूल परमात्मा को माना गया है। परमात्मा का ज्ञान भी अपरिमित का मूल अपरिमित ही हो सकता है। जो मतवादी ईश्वर के असीम ज्ञान भण्डार को एक, दो या अधिक कमरों में बन्द समझना चाहते हैं, उन्हें महर्षि दयानन्द के उदार विचार पर ध्यान देना चाहिए। पहला नियम अनुदारता की जड़ पर कुठाराघात करता है। वह पन्थाईपन का कट्टर शत्रु है। वह उन लोगों के दावे को छिन्न-भिन्न कर देता है, जो ईश्वरीय ज्ञान के ठेकेदार बनना चाहते हैं।

कई महानुभावों का यह दावा है कि महर्षि जी को उन्होंने नियम परिवर्तन में प्रेरित किया और जो भेद दिखाई देता है वह उन्हीं की उदारता का फल है। प्रेरणा किसी ओर से हो, इसमें सन्देह नहीं कि जो भी परिवर्तन किया गया वह महर्षि जी की अनुमति से किया गया। यदि उन नियमों में अधिक उदारता है तो महर्षि दयानन्द के विचारों की उदारता ही उसमें कारण है। यदि किसी को ऊपर दिये नियमों से उदारता का भली-भांति पता न लगे तो वह निम्नलिखित नियमों पर भी दृष्टिपात करे। निश्चित है कि उसका भ्रम दूर हो जायगा -

4) 'सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना

चाहिए।' क्या एक धर्म का संस्थापक अपने अनुयायियों के लिए इससे अधिक उदार नियम का भी निर्माण कर सकता है?

9) 'प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।'

लाहौर वाले दसों नियमों में एक असीम सत्य प्रेम, एक अनन्त उदार हृदयता और एक व्यापक उद्देश्य की सूचना मिलती है। जिस आत्मा में इन तीनों गुणों का निवास हो, यदि उसे 'महर्षि की आत्मा' न कहें तो और किसे कहें?

लाहौर में आर्यसमाज की स्थापना हो गई। समाज के अधिवेशनों के लिए एक मकान किराये पर ले लिया गया। महर्षि दयानन्द उसमें प्रतिसप्ताह धर्मोपदेश किया करते थे। समाज के प्रधान लाला मूलराज जी एम०ए० और मन्त्री लाला साईंदास जी नियत हुए। कई भक्तों ने महर्षि से प्रार्थना की कि आप आर्यसमाज के गुरु या आचार्य पद को ग्रहण करें। महर्षि ने उत्तर दिया कि इस प्रस्ताव से गुरुडम की बू आती है। मेरा उद्देश्य तो गुरुडम की जड़ काटना है, उससे मुझे घृणा है। तब दूसरे भक्त ने प्रस्ताव किया कि यदि महर्षि जी आचार्य या गुरु नहीं बनना चाहते तो कम-से-कम आर्यसमाज के परम सहायक की पदवी तो अवश्य ही स्वीकार करें। ऋषि का उत्तर प्रश्न के रूप में था। आपने पूछा कि यदि मुझे आर्यसमाज का परम सहायक कहोगे तो परमात्मा को क्या कहोगे? फिर यह विचार कर कि आर्य पुरुष सर्वथा इन्कार से उदास न हों, उन्होंने समाज के सहायकों में नाम लिखाना अंगीकार कर लिया। यही महर्षि दयानन्द का ऋषित्व था। जिन लोगों को मौका मिला, वे पैगम्बर और रसूल बनने से नहीं कतराए; जिन्हें इतनी बड़ी हिम्मत न हुई, वे आचार्य, गुरु या नबी बन गए। महर्षि का ही ऐसा हृदय था कि आचार्य, गुरु या परमसहायक तक के पदों को स्वीकार नहीं किया। कारण यही था कि महर्षि दयानन्द अपने को परमात्मा के ज्ञान का प्रचारक और सत्य का साधकमात्र समझते थे, इससे अधिक कुछ नहीं। वहां न बड़प्पन की चाह थी और न गुरुपन की बू। वहां तो एक ईश्वर पर विश्वास था और सत्य पर अटल श्रद्धा थी। यही कारण था कि इस वीर की एक ही गरज से सदियों से खड़े गुरुडम के गढ़ हिल जाते थे, झुक जाते थे और गिरकर चकनाचूर हो जाते थे। यदि महर्षि में अपनी बड़ाई या लौकिक बढ़ती की कुछ भी कामना होती तो उन्हें ऐसी अद्‌भुत सफलता कभी प्राप्त न होती।

लाहौर में नियम और उपनियम जुदा कर दिये गए थे। उपनियम अन्तरंग

सभा ने बनाए थे। जिस समय अन्तरंग सभा में उपनियमों पर विचार हो रहा था, महर्षि जी अकस्मात् वहां पहुंच गए। सभासदों ने प्रस्तुत विषय पर महर्षि जी की सम्मति मांगी। महर्षि ने कहा कि मैं आपकी अन्तरंग सभा का सभासद् नहीं हूं, इसलिये मुझे सम्मति देने का अधिकार नहीं है। सर्वसम्मति से महर्षि जी को उसी समय अन्तरंग सभा का प्रतिष्ठित सभासद् बना दिया। उपनियम तैयार हो जाने पर स्थानीय समाज का संगठन पूरा हो गया। समाज मन्दिर में नियमपूर्वक अधिवेशन होने लगे।

इस प्रकार लाहौर के कार्य से निश्चित होकर महर्षि ने प्रान्त का भ्रमण आरंभ किया। आपने अमृतसर, गुरुदाससुर, जालन्धर, फिरोजपुर छावनी, रावलपिंडी,गुजरात, वजीराबाद, गुजरांवाला तथा मुल्तान छावनी आदि में पध ारकर सदुपदेश दिये। प्रायः आपके पहुंचते ही आर्यसमाज की स्थापना हो जाती थी। आर्यसमाज की स्थापना से पौराणिक गढ़ में और पादरी दल में भी हलचल पैदा हो जाया करती थी। सभी स्थानों पर इधर पौराणिकों और उधर पादरियों से संग्राम करना पड़ता था। पंजाब का पौराणिक दल पण्डितों से बिल्कुल शून्य था। प्रान्तभर में कोई भी अच्छा पण्डित नहीं था। वेद का ज्ञान तो कहां, अर्वाचीन का भी कोई अच्छा ज्ञाता मिलना कठिन था। यही कारण था कि पंजाब में पौराणिक दल की ओर से अधिक असभ्यता का व्यवहार होता था। वे लोग पाण्डित्य का स्थान हर गाली-गलौच और ईंट-पत्थर से पूरा करना चाहते थे। अमृतसर और वजीराबाद आदि शहरों में व्याख्यानों या शास्त्रार्थों के स्थान में गाली और पुस्तकों के प्रमाण के स्थान में कंकर के प्रयोग को काफी समझा गया। पादरियों के साथ शास्त्रार्थ कम हुए, परन्तु उनके चंगुल में फंसे हुए बहुत-से अबोध बटेरे महर्षि दयानन्द ने बचाए।

पंजाब के दौरे की कुछेक घटनाएं महर्षि दयानन्द के चरित्र का अच्छा चित्रण करती हैं। जब वह अमृतसर में उपदेश कर रहे थे, उन दिनों पादरी क्लार्क उनके पास आए। पादरी साहब ने महर्षि जी को एक ही मेज पर इकट्ठे भोजन करने के लिए निमंत्रित किया। महर्षि जी ने पूछा कि इकट्ठे भोजन करने से क्या लाभ होगा? पादरी महाशय बोले कि इकट्ठे खाने से प्रीति बढ़ जायगी। इस पर महर्षि जी ने कहा-

'शीआ और सुन्नी एक ही बर्तन में खाते हैं। रूसी और अंग्रेज तथा इसी तरह आप रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट ईसाई एक ही मेज पर जीम लेते हैं, परन्तु सब जानते हैं कि इनमें परस्पर कितना वैर-विरोध है, एक-दूसरे के साथ कितनी शत्रुता है!'

सरदार दयालसिंह मजीठिया अमृतसर के प्रसिद्ध रईस थे। वह ब्राह्मो थे। वह प्राय: वेदों पर शंकाएं किया करते थे। बातचीत करने में वह प्राय: आपे से बाहर हो जाते और किसी नियम का पालन नहीं करते थे। एक बार बातचीत में वह बहुत तेज हो गए। महर्षि जी ने उन्हें बार-बार समझाया कि आप निश्चित समय तक बोला कीजिए, प्रतिवादी को बोलने का मौका भी दीजिये। तब भी सरदार साहब शान्त न हुए। तब महर्षि जी ने कहा कि यदि आप निर्णय ही कराना चाहते हैं तो केशवचन्द्र जी को बुलाकर बातचीत करा लीजिए।

गुरुदासपुर में महर्षि दयानन्द के व्याख्यान सुनने इंजीनियर मिस्टर कॉक भी आया करते थे। एक दिन व्याख्यान देते हुए आपने कहा-

'अंग्रेज लोगों को इस देश में आए बहुत चिर हो गया है, परन्तु इन लोगों ने अपने उच्चारण को अभी तक नहीं सुधारा। तकार के स्थान में टकार ही बोलते हैं।' कॉक महाशय रुष्ट हो गए और यह कहते हुए चले गए कि यदि तुम पश्चिम में पेशावर की ओर चले जाओ तो तुम्हें मजा आ जाए। कॉक महाशय का अभिप्राय शायद यह था कि स्वतंत्रता से बोलना केवल अंग्रेजी राज्य में ही सम्भव है। ऐसा तर्क प्राय: किया जाता है, परन्तु तर्क करनेवाले लोग भूल जाते हैं कि अंग्रेजी राज्य से पूर्व भी भारतवर्ष में स्वाधीन क्रिया के लिए बहुत अधिक रास्ते खुले थे। पहले तो अंग्रेजी राज्य में वाणी की स्वाधीनता बहुत परिमित है, और फिर कौन कह सकता है कि वाणी की थोड़ी-सी स्वाधीनता शिक्षा, हथियार और राजकीय स्वाधीनता से बहुत श्रेष्ठ है?

जालन्धर में महर्षि दयानन्द सरदार विक्रमसिंह के यहां ठहरे हुए थे। सरदार जी ने महर्षि जी से ब्रह्मचर्य के बल की बाबत पूछा। महर्षि जी ने बतलाया कि ब्रह्मचर्य से अतुल बल की प्राप्ति हो सकती है। सरदार साहब को विश्वास न हुआ और सबूत मांगने लगे। महर्षि जी उस समय तो चुप रहे। सांझ के समय सरदार साहब अपनी गाड़ी में बैठकर बाहर चले। गाड़ी में घोड़ों की बड़ी बढ़िया जोड़ी जुती हुई थी। कोचवान ने लगाम संभाली और चाबुक हिलाया। जो घोड़ों की जोड़ी इशारा पाते ही हवा से बातें करने लगती थी, वह केवल अगले पांव उठाकर रह गई। कोचवान झुंझला गया। सरदार साहब आश्चर्य से इधर-उधर देखने लगे। पीछे दृष्टि पड़ी तो देखा कि महर्षि जी गाड़ी को पकड़कर मुस्करा रहे हैं। सरदार साहब को ब्रह्मचर्य के बल का एक नमूना मिल गया और महर्षि जी ने हंसकर गाड़ी को छोड़ दिया।

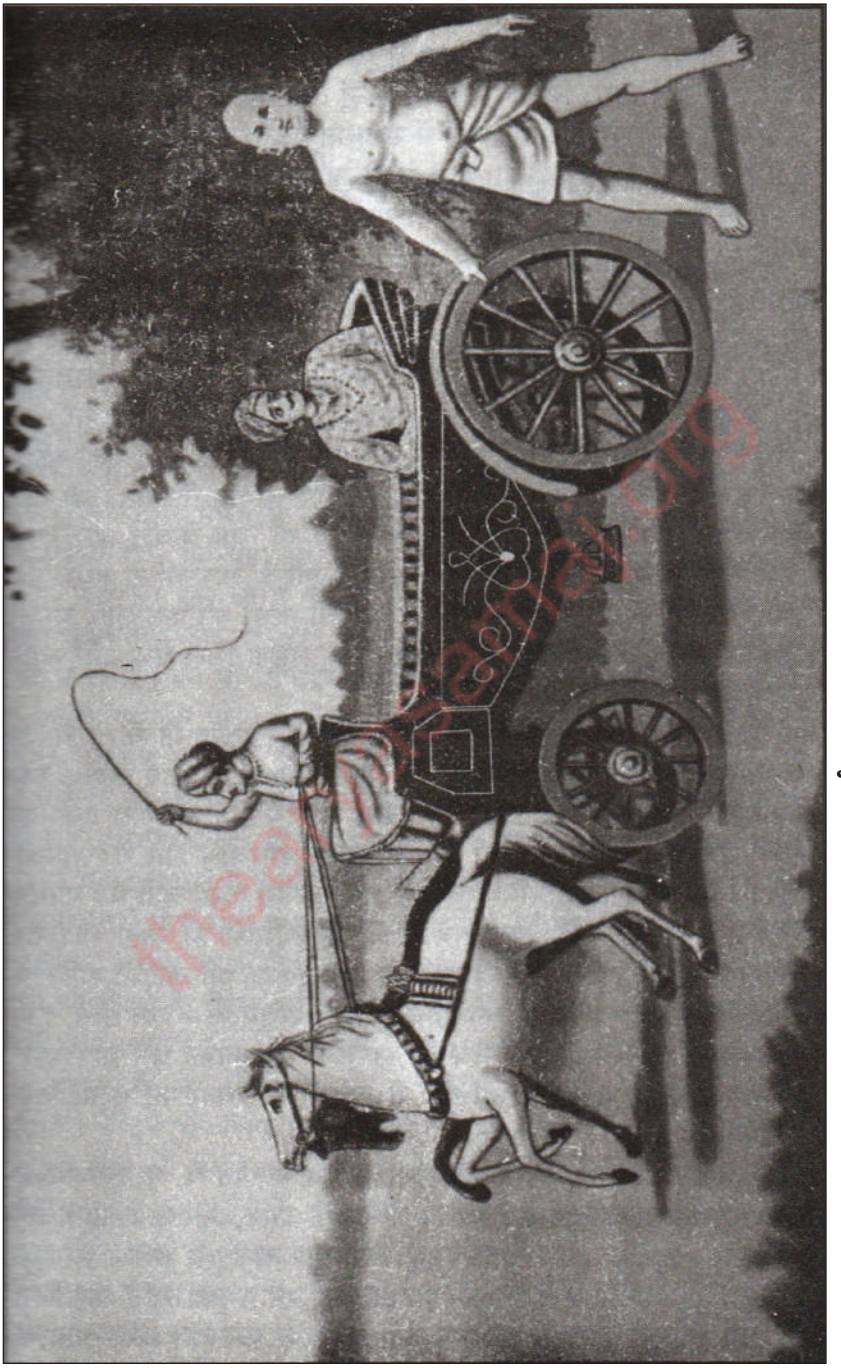

ब्रह्मचर्य बल का एक प्रमाण

पंजाब में भ्रमण के समय महर्षि दयानन्द वेदभाष्य लिखाया करते थे, इस कारण उनके साथ दो-तीन पण्डित रहते थे। पत्र-व्यवहार के लिए लेखक रहता था। आप प्रायः 'आर्योद्देश्यरत्नमाला' में क्रम से दिये लक्षणों में से एक-एक को लेकर उसकी व्याख्या करते थे। सब व्याख्यान शास्त्रीय होते थे। शास्त्रीय विषय के प्रसंग में प्रचलित सामयिक बुराइयों का खण्डन करते जाते थे। धार्मिक, सामाजिक या राजनैतिक सभी प्रकार के दोषों की मीमांसा हो जाती थी। सभी प्रकार की बुराइयों पर सुदर्शन चक्र घूम जाता था। किसी भी जीवित शक्ति का लिहाज नहीं किया जाता था। महर्षि की दृष्टि में दो ही वस्तुएं थीं- एक सत्य, दूसरी असत्य । सत्य का मण्डन और असत्य का खण्डन, यह उनका धर्म था। यहां न प्रजा का लिहाज था, न राजा का भय था। संसार की हर प्रकार की भलाई करना उनका लक्ष्य था।

अपने निवास स्थान पर महर्षि जी साधारण वेष में रहते थे, परन्तु व्याख्यान के समय सिर पर रेशमी पीताम्बर, नीचे पीली रेशमी धोती, और ऊपर ऊनी चोगा पहनते थे। शरीर सुडौल और लम्बा था। चेहरा पूर्ण चन्द्र के समान भरा हुआ और तेजस्वी था। आंखों से तेज बरसता था। वह प्रभावयुक्त मूर्ति थी, जिसने थोड़े ही दिनों में पंजाब भर में धार्मिक हलचल पैदा कर दी, और भ्रमात्मक विचारों का महल हिला दिया।

thearyasamaj.org

आर्यसमाज का विस्तार

बम्बई, युक्तप्रान्त सौर पंजाब में आर्यसमाजों की स्थापना हो चुकी थी। आर्यसमाज के सभासद् हजारों की संख्या तक पहुंच चुके थे। जितने सभासद् थे, महर्षि दयानन्द के भक्त और अनुयायी उनसे बहुत अधिक थे। बहुत से लोग समझते थे कि यह सुधारक कहता तो ठीक है, परन्तु यह संन्यासी है, नि:शंक है; हम इतना त्याग नहीं कर सकते। ऐसे लोग आर्यसमाजी न भी रहे हों, परन्तु वे महर्षि के भक्त थे और उन्हें आर्य जाति का रक्षक समझते थे।

इस समय उत्तरी भारत में महर्षि की अपूर्व स्थिति थी। वह आर्य जाति (हिन्दू जाति के) के नेता, सुधारक और रक्षक माने जाते थे। आर्य जाति का प्राण गो वंश है। इस समय गोरक्षा के लिए महर्षि दयानन्द से बढ़कर ऊंची आवाज उठानेवाला कोई नहीं था। महर्षि ने गो-करुणानिधि लिखकर आर्य जाति की आंखें खोलने का यत्न किया था। वह जिस किसी भी सरकारी अफसर से मिले, उसके सम्मुख भारत में गोहत्या बन्द कराने का जोर दिया। इतना ही नहीं, महर्षि के सिंहनाद से पहले ईसाई, पादरी और मुसलमान मौलवी हिन्दू-धर्म पर गहरी चोटें पहुंचा रहे थे। बेचारे हिन्दू पण्डित मूर्तियों और पुराणों के बोझ से दबे हुए होने के कारण अपनी पीठ भी सीधी न कर सकते थे, शत्रुओं के प्रहारों का क्या उत्तर देते ? पादरी और मौलवी हिन्दू-क्षेत्र में से खूब फसल काट रहे थे। महर्षि दयानन्द ने जहां एक ओर आर्य जाति की पीठ पर से पत्थर और पोथी का बोझ हटाकर उसकी कमर सीधी कर दी, वहां दूसरी ओर पादरियों और मौलवियों के तीरों को रोकने के लिए तर्क की ढाल खड़ी कर दी। न केवल इतना ही, महर्षि दयानन्द प्रतिभाशाली योद्धा था। वह जानता था कि जो आदमी केवल गढ़ की ओट से दुश्मन के वार रोकता है, वह कभी दुश्मन को हरा नहीं सकता। दुश्मन की हिम्मत तोड़ने के लिए उल्टा आक्रमण भी चाहिए। पादरी और मौलवी पुराणों की कथाओं के हवाले दे-देकर आर्य जाति को निरुत्तर कर रहे थे। पुराणों का त्याग करके, मूर्ति-पूजा को वेद-विरुद्ध बतलाकर महर्षि ने वे छिद्र बन्द कर दिये, जहां से होकर दुश्मन के गोले आर्यपुरी में आ रहे थे। इस प्रकार घर की रक्षा का पूरा प्रबन्ध करके उस चतुर सेनानी ने अपनी समालोचना-रूपी सेना का

मुंह बाहर को मोड़ा, और मैदान में प्रत्याक्रमण कर दिये। महर्षि ने इंजील और कुरान हाथ में लिये, और ईसाइयों और मुसलमानों को बताया कि तुम दूसरों की आंखों में तिनका ढूंढने जा रहे हो, पहले अपनी आंख का शहतीर तो संभाल लो! ईसाइयों और मुसलमानों को कोमल-प्रकृति हिन्दू से कभी प्रत्याक्रमण की आशा न थी। वे हरिण से यह आशंका न करते थे कि वह सींग मारेगा। पादरी और मौलवी इस आकस्मिक प्रत्याक्रमण से झुंझला उठे। उधर आर्य जाति का हृदय फूल उठा। आर्य धर्म और आर्य सभ्यता की रक्षा भी हो सकती है, आर्य वीरों के इतिहास का भी कोई रखवाला है, आर्य जाति भी अपने मान को बचा सकती है-इन विचारों से, आर्य पुरुषों की सांस प्रसन्नताभरी आशा से भरपूर होकर जोर से चलने लगी। जो आर्यजन महर्षि के कार्य के महत्त्व को समझ सकते थे, प्रसन्न थे कि परमात्मा ने आर्य-धर्म और आर्य सभ्यता का रक्षक भेज दिया है। जो लोग महर्षि दयानन्द के खण्डनों को देखकर घबराते हैं, वे कभी उन स्थितियों पर विचार नहीं करते, जिनमें महर्षि को काम करना पड़ा। स्थिति यह थी कि आर्य धर्म पर ईसाइयों और मुसलमानों के भयंकर आक्रमण हो रहे थे। उन्हें सफलता भी प्राप्त हो रही थी। सफलता के दो कारण थे। एक तो आर्य जाति में आई हुई बुराइयों के कारण घर की निर्बलता, और दूसरा विरोधियों का निष्ठुरता से आक्रमण महर्षि ने स्थिति को पहचानकर ठीक उपाय का प्रयोग किया। घर में सुधार और आक्रमण करनेवालों पर प्रत्याक्रमण-ये दो ही उपाय थे। वह स्थिति खतरे से भरी हुई थी, इस कारण धर्म के सेनापति को युद्ध के नियमों के अनुसार कठोर साधनों का प्रयोग करना पड़ा। इसमें अनुचित क्या था ?

महर्षि दयानन्द उत्तरी भारत में आर्य जाति के मान्य नेता थे। वह आर्यसमाजों के संस्थापक, गुरु और आचार्य थे। राजा और प्रजा की दृष्टि में वह भारत के अगुवाओं में एक थे। यह स्थिति थी, जब वह पंजाब का दौरा लगाकर 1877 ई० के जुलाई मास में युक्तप्रान्त में वापस गए। लगभग दो वर्ष तक आप बराबर युक्तप्रान्त में ही भ्रमण करते रहे। इस दौरे में प्रचार हुआ, नए आर्यसमाजों की स्थापना हुई, और मौलवियों तथा पादरियों से शास्त्रार्थ हुए। 29 जुलाई 1878 ई० को महर्षि दयानन्द रुड़की पहुंचे। वहां के व्याख्यानों में इंजीनियरिंग कॉलेज के विद्यार्थी और प्रोफेसर लोग आया करते थे। उन लोगों के प्रश्न प्रायः विज्ञान के विषय पर होते थे। महर्षि जी ने एक दिन इसी विषय पर बातचीत की कि प्राचीन भारत में विज्ञान था या नहीं। आपने वेदों तथा आर्ष ग्रन्थों के अनेक प्रमाण देकर बताया कि प्रायः

सभी मुख्य-मुख्य वैज्ञानिक सिद्धान्त, जिन पर नए विज्ञान को गर्व है, हमारे साहित्य में विद्यमान हैं। रुड़की से अलीगढ़ होते हुए महर्षि जी अगस्त मास के अन्त में मेरठ पहुंचे। मेरठ में उस समय विशेष जागृति थी। 19 सितम्बर 1878 ई० के शुभ दिन वहां आर्यसमाज की स्थापना हो गई। मेरठ के उत्साही आर्य पुरुषों के धर्म-बल से यह समाज शीघ्र ही युक्तप्रान्त के समाजों में मुख्य हो गया। मेरठ से महर्षि जी दिल्ली पहुंचे। यहां भी प्रचार के अनन्तर आर्यसमाज की स्थापना हुई।

दिल्ली से चलकर महर्षि जी ने छः-सात महीनों तक बड़ी भागदौड़ का दौरा लगाया। अजमेर, नसीराबाद, जयपुर, रिवाड़ी, दिल्ली, मेरठ, हरिद्वार, देहरादून आदि में प्रचार और सुधार का कार्य करते हुए आप आर्य पुरुषों को नया जीवन प्रदान करते रहे। 1879 के मई मास में आप मुरादाबाद पहुंचे। मुरादाबाद में मुन्शी इन्द्रमणि आदि भक्तों के आग्रह से महर्षि जी ने देर तक निवास किया। आपके व्याख्यानों का विषय धार्मिक होता था, परन्तु आपकी दृष्टि में धर्म इतना विस्तृत था कि मनुष्य-जीवन से सम्बन्ध रखनेवाला शायद ही कोई ऐसा विषय हो, जिस पर आप प्रकाश न डालते हों। परमात्मा और आत्मा पर गहरे विचार, साइंस की समस्याएं, विवाह आदि सामाजिक प्रश्न, देश की दशा, राजा के कर्तव्य आदि सभी विषयों पर महर्षि दयानन्द अपनी सम्मति प्रकाशित किया करते थे। आपका श्धर्मश बड़ा विस्तृत था। केवल वह 'ईश्वर पूजा' तक परिमित नहीं था और न ही डर या नीति की दृष्टि से आप उसके बीच में लकीर डालने को तैयार होते थे। 'धर्म' एक था, सर्वव्यापी था, सर्वतोगामी था, मनुष्य के प्रत्येक व्यवहार में 'धर्म' का कुछ वक्तव्य है- यह महर्षि दयानन्द का सिद्धान्त था आपके व्याख्यान और आपका प्रधान ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' यह प्रमाणित करते हैं कि 'धर्म' को आप एक मजहब, ईमान या सम्प्रदाय नहीं समझते थे, बल्कि एक व्यापी नियम मानते थे। यही कारण था कि महर्षि ने आर्यावर्त के प्राचीन गौरव पर बीसियों व्याख्यान दिये, अनेक प्रार्थनाओं में आर्य जाति के चक्रवर्ती राज्य की प्रार्थना की और राजा तथा प्रजा का धर्म बताते हुए भारत के विदेशी शासन की कमियां दिखाई। मुरादाबाद में आपके व्याख्यानों के समय अन्य लोगों के साथ स्थानीय कलेक्टर मि० स्पेडिंग भी आया करते थे। उनके कहने पर एक दिन महर्षि जी ने राजधर्म पर ही व्याख्यान दिया। महर्षि ने वेदों तथा स्मृतियों के प्रमाणों से राजनीति के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए निर्भयता से राज्य के दोष दिखलाए। व्याख्यान घण्टों तक होता रहा। व्याख्यान के अन्त में

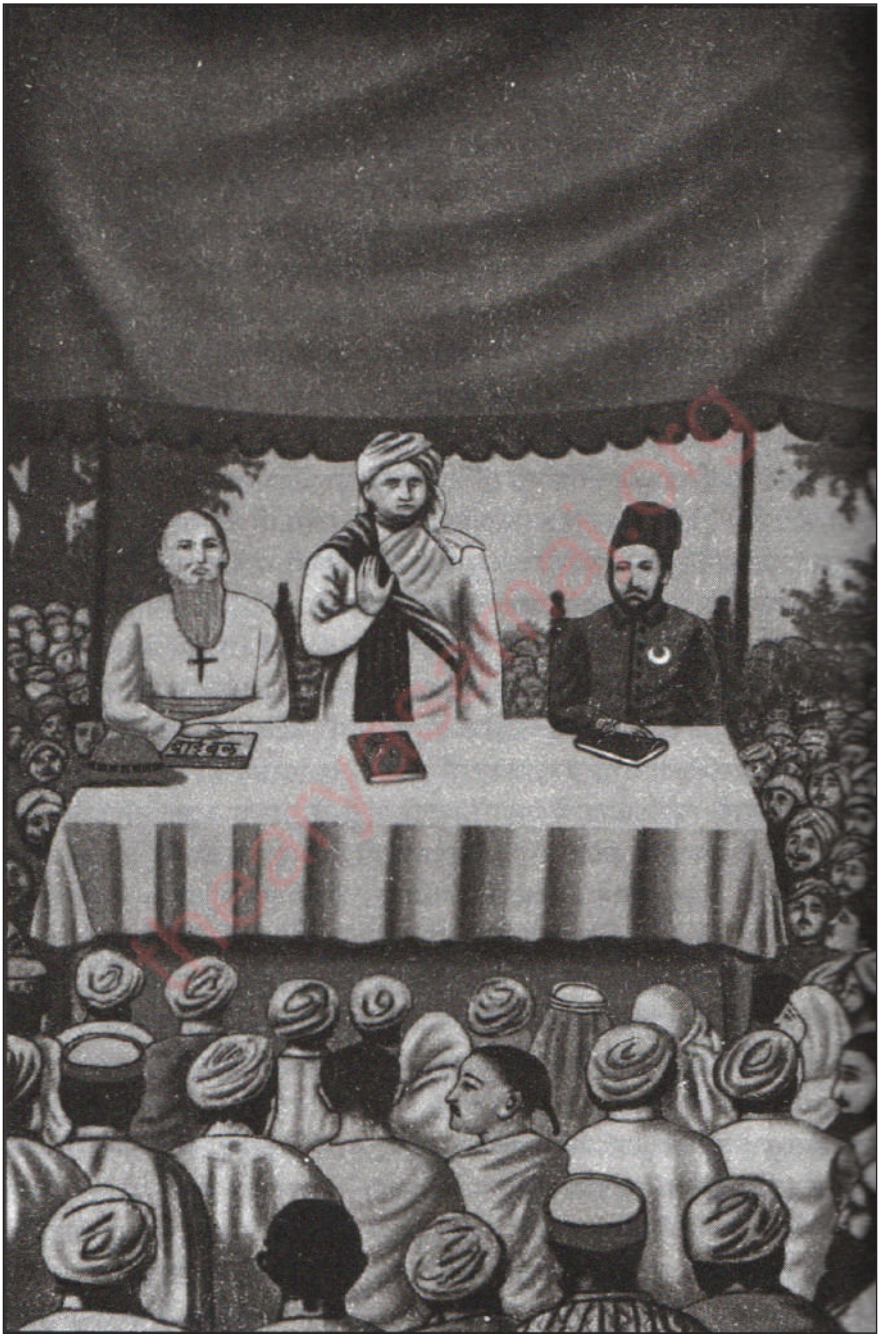

ईसाई और मुसलमानों के साथ सत्यधर्म विचार (मेला चांदापुर)

कलेक्टर महाशय ने महर्षि जी को धन्यवाद दिया और कहा कि यदि राजा और प्रजा के सम्बन्धों की ऐसी ही स्थिति रहती तो जो राजविप्लव हो चुका है, वह कभी न होता।

मुरादाबाद से चलकर बदायूं ठहरते हुए महर्षि जी बरेली पहुंचे। बरेली के रईस लाला लक्ष्मीनारायण की कोठी पर आपका डेरा जमाया गया। व्याख्यान आरम्भ हो गए। महर्षि जी व्याख्यान के स्थान पर ठीक समय से पूर्व ही पहुंच जाते थे और नियत समय पर व्याख्यान शुरू कर देते थे। व्याख्यान का स्थान उतारे स्थानीय आवास से दूर था, इस कारण लाला लक्ष्मीनारायण की गाड़ी समय पर आ जाती और मण्डप तक महर्षि जी को पहुंचा जाती थी। एक दिन महर्षि जी व्याख्यान - मण्डप में नियत समय से पौन घण्टे पीछे पहुंचे। समय का व्यतिक्रम महर्षि जी के स्वभाव में नहीं था। उन्हें विलम्ब से पहुंचने का बड़ा दु:ख हुआ। व्याख्यान के प्रारम्भ में ही आपने कहा-

'मैं तो समय पर समुद्यत था, परन्तु गाड़ी नहीं पहुंच सकी। अन्त में पैदल चलकर आ रहा था कि मार्ग में गाड़ी मिली। समय के व्यतिक्रम में मेरा दोष नहीं है, किन्तु बच्चों के बच्चों का है। बालविवाह की सन्तानों में ऐसी निर्बलता का होना आश्चर्य नहीं है।'

व्याख्यानों में सभी ऊंचे राज्याधिकारी आया करते थे। महर्षि जी बिना भय या लिहाज के सच्चे धर्म का प्रचार करते थे। बरेली में एक ऐसी घटना हुई, जिससे महर्षि जी के चरित्र का भली प्रकार चित्रण होता है। घटना का वर्णन लेखकों ने रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न भाषाओं में किया है। यहां महात्मा मुन्शीराम जी का किया वर्णन उद्धृत किया जाता है। वह पं० लेखराम जी के लिखे जीवन-चरित की भूमिका में दिया गया है। महात्मा जी व्याख्यान में स्वयं उपस्थित थे, अत: उनका किया वर्णन अधिक यथार्थ है-

एक रोज व्याख्यान देते हुए महर्षि जी महाराज पुराणों की असम्भव बातों का खण्डन करते-करते उनकी कदाचार-शिक्षा का खण्डन करने लगे। उस समय पादरी स्कॉट, मिस्टर रेड कलेक्टर जिला, और मि० एडवर्ड साहब कमिश्नर डिवीजन, पन्द्रह-बीस और अंग्रेजों के साथ विद्यमान थे। महर्षि जी ने पुराणों की पंच कुमारियों की चर्चा करते हुए एक-एक गुण बयान करने आरम्भ किये और पौराणिकों की बुद्धि पर शोक प्रकाशित किया। द्रौपदी के पांच पति कराके उसे कुमारी करार दिया और कुन्ती, तारा, मन्दोदरी आदि को कुमारी कहना पौराणिकों की आचार सम्बन्धी शिक्षा को निकम्मा सिद्ध करता है। महर्षि जी की कथनशैली ऐसी परिहासपूर्ण थी कि श्रोता थकने

का नाम नहीं लेते थे। इस पर कलेक्टर साहब और कमिश्नर साहब आदि हंसते और प्रसन्नता प्रकाशित करते थे। किन्तु इस विषय को समाप्त करके महर्षि जी महाराज बोले–

'पुरानियों की तो यह लीला है, अब किरानियों की लीला सुनो! ये ऐसे भ्रष्ट हैं कि कुमारी के बेटा पैदा होना बताते, फिर दोष सर्वज्ञ, शुद्ध-स्वरूप परमात्मा पर लगाते और ऐसा घोर पाप करते हुए तनिक लज्जित नहीं होते।' इतना कहना था कि साहब कलेक्टर और साहब कमिश्नर के चेहरे मारे गुस्से के लाल हो गए लेकिन महर्षि जी का व्याख्यान उसी जोर से जारी रहा। उस रोज ईसाई मत का खण्डन व्याख्यान की समाप्ति तक करते रहे। दूसरे रोज ही खजांची लक्ष्मीनारायण की साहब कमिश्नर बहादुर की कोठी पर तलबी हुई। साहब बहादुर ने फरमाया कि पण्डित साहब को कह दो कि बहुत सख्ती से काम न लिया करें। हम ईसाई लोग सभ्य हैं। हम तो बहस-मुबाहिसा में सख्ती से नहीं घबराते, लेकिन अगर जाहिल हिन्दू और मुसलमान बिगड़ गए तो तुम्हारे स्वामी पण्डित के व्याख्यान बन्द हो जाएंगे। खजांची साहब यह पैगाम महर्षि जी के पास पहुंचाने का वादा करके बाहर चले आए, लेकिन महर्षि जी तक यह मजमून पहुंचाने वाला बहादुर कहां से मिलता? कई एक ड्योढ़ी-बरदारों से प्रार्थना की, लेकिन कोई भी आगे बढ़ने की हिम्मत न कर सका। आखिरकार दृष्टि एक नास्तिक पर पड़ी और उसका जिम्मा ठहराया गया कि वह मुआमला पेश कर देवे। खजांची साहब मय नास्तिक और चन्द एक दीगर आदमियों के कमरे में पहुंचे जिस पर नास्तिक ने सिर्फ यह कहकर कि खजांची साहब कुछ अर्ज करना चाहते हैं क्योंकि उन्हें कमिश्नर साहब ने बुलाया था, किनारा किया और कुल मुसीबत खजांची साहब पर टूट पड़ी। अब खजांची साहब कभी सिर खुजलाते हैं, कभी गला साफ करते हैं। आखिर पांच मिनट तक विस्मय में देखकर महर्षि जी ने फरमाया, भाई, तुम्हारा तो कोई काम करने का समय ही नहीं है, इसलिए तुम समय की कीमत नहीं समझ सकते। मेरा समय अमोल है, जो कहना चाहते हो वह कह दो। इस पर खजांची साहब बोले, महाराज, अगर सख्ती न की जाय तो क्या हर्ज है? इससे असर भी अच्छा पड़ता है, और फिर अंग्रेजों को नाराज करना भी अच्छा नहीं है इत्यादि। ये बातें अटककर और बड़ी मुश्किल से खजांची साहब के मुंह से निकलीं। इस पर महाराज हंसे और फर्माया, अरे बात क्या थी जिसके लिए गिड़गिड़ाता है, और इतना समय खराब किया? साहब ने कहा होगा तुम्हारा पण्डित सख्त बोलता है, व्याख्यान बन्द हो जाएंगे,

यह होगा, वह होगा। अरे भाई, मैं हव्वा तो नहीं कि तुझे खा लूंगा? उसने तुझसे कहा, तू मुझसे सीधा कह देता व्यर्थ इतना समय क्यों गंवाया? वहीं एक विश्वासी पौराणिक हिन्दू बैठा था। बोला, 'देखा? यह तो कोई अवतार हैं, दिल की बात जान लेते हैं।'

खैर, यहां तो जो कुछ हुआ सो हुआ। अब व्याख्यान का हाल काबिले-जिक्र है। मैंने केशवचन्द्र सेन, लालमोहन घोष, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, ऐनी बैसेण्ट और अन्य बहुत-से प्रसिद्ध व्याख्याताओं के भाषण सुने हैं और वह भी उनकी बढ़ती के समय में। लेकिन मैं सच्चे दिल से कहता हूं कि जो असर मुझ पर उस रोज के सादे शब्दों में मालूम हुआ, अब तक तो दिखाई दिया ही नहीं, आगे की ईश्वर जाने ! उस रोज आत्मा के स्वरूप पर व्याख्यान था। इसी प्रकरण में महाराज ने सत्य के बल पर बोलना प्रारम्भ किया। पादरी स्कॉट को छोड़कर पहले दिन के सब अंग्रेज सज्जन विद्यमान थे। कोई आदमी नहीं हिलता था। सब चुपचाप एकाग्र होकर व्याख्यान सुन रहे थे। मुझे पूरा व्याख्यान तो याद नहीं, यद्यपि उसके असर का अब तक अनुभव करता हूं, किन्तु कुछेक शब्द मुझे मरते दम तक याद रहेंगे। महर्षि ने कहा- लोग कहते हैं कि सत्य को प्रकट न करो। कलेक्टर क्रोधित होगा, कमिश्नर अप्रसन्न होगा, गवर्नर पीड़ा देगा। अरे चक्रवर्ती राजा क्यों न अप्रसन्न हो, हम तो सत्य ही कहेंगे! इसके बाद उस उपनिषद्-वाक्य को पढ़कर जिसमें लिखा है कि आत्मा का न कोई हथियार छेदन कर सकता है, और न उसे आग जला सकती है; गर्जती हुई आवाज में बोले, यह शरीर तो अनित्य है। इसकी रक्षा में प्रवृत्त होकर अध र्म करना व्यर्थ है। इसे जिस मनुष्य का जी चाहे नष्ट कर दे। फिर चारों ओर अपनी तीक्ष्ण ज्योति डालकर सिंहनाद करते हुए फर्माया, "लेकिन वह सूरमा वीर पुरुष मुझे दिखलाओ, जो यह दावा करता है कि वह मेरे आत्मा का नाश कर सकता है! जब तक ऐसा वीर इस संसार में दिखाई नहीं देता, मैं यह सोचने के लिए भी तैयार नहीं हूं कि मैं सत्य को दबाऊं या नहीं!'

लम्बे उद्धरण के लिए पाठक क्षमा करें। यह महर्षि दयानन्द की व्याख्यान-शक्ति और निर्भयता का एक अच्छा दृष्टान्त है। जिन लोगों को महर्षि के व्याख्यान सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, उन पर व्याख्यानों का बड़ा गहरा प्रभाव होता था। महर्षि की भाषण शक्ति स्वाभाविक थी, उसमें बनावट या यत्नपूर्वक भाषा-निर्माण का नाम नहीं था। जो कुछ था, हृदय का शब्द था, एक निर्भय आत्मा का उद्‌गार था। यही कारण था कि महर्षि का भाषण सदा नया, सदा मनोरंजक और सदा शिक्षाप्रद रहता था।

महर्षि पूरी तरह निर्भय थे। उनके जीवन की घटनाएं निर्विवाद रीति से सिद्ध करती हैं कि किसी शारीरिक या मानसिक खतरे से घबराना उनके लिए असम्भव था। भय शब्द उनके शब्द-शास्त्र से निर्वासित हो गया था।

बरेली में महर्षि दयानन्द का पादरी स्कॉट से शास्त्रार्थ हुआ। शास्त्रार्थ बड़ी शान्ति से हुआ। जनता पर उत्तम प्रभाव पड़ा। शास्त्रार्थ में आप बड़ी स्पष्टवादिता से काम लेते थे, परन्तु कभी प्रस्तुत विषय, सभ्यता की सीमा और सत्य-प्रियता का साथ नहीं छोड़ते थे। प्रतिपक्षी के पक्ष को समझना, समझकर उसे ठीक रूप में प्रकट करना और युक्तिपूर्वक उत्तर देना, शास्त्रार्थ के ये स्वर्णिम नियम महर्षि दयानन्द को मान्य थे। केवल शब्दों से ही मान्य नहीं थे, व्यवहार में भी पूर्णतः मान्य थे।

बरेली के बाद कई मास तक संयुक्तप्रान्त का भ्रमण जारी रहा। शाहजहांपुर, लखनऊ, फर्रुखाबाद, कानपुर, इलाहाबाद और मेरठ आदि में महर्षि धर्म का प्रचार करते रहे। जहां आर्यसमाज नहीं बने थे, वहां उनकी स्थापना कर देते, और जहां समाज की स्थापना हो चुकी थी वहां उसके पुष्ट करने का उद्योग करते थे। धर्म-चर्चा-समारोह भी सभी जगह होता रहा। मेरठ से देहरादून और वहां से फिर मेरठ होते हुए महर्षि जी आगरा पहुंचे। आगरा संयुक्तप्रान्त का अन्तिम नगर था, जिसमें महर्षि दयानन्द ने धर्म-प्रचार करके आर्यसमाज की स्थापना की। आगरा से संयुक्तप्रान्त और वहां से विदाई लेकर महर्षि राजपूताना की ओर प्रस्थित हुए।

thearyaacharya.org

थियोसॉपफी से सम्बन्ध

1878 ई० के जनवरी मास में महर्षि दयानन्द को अमेरिका से आया हुआ यह पत्र मिला–

To the Most Honourable Pandit Dayanand Saraswati, India.

Venerated Teacher, a number of American and other students who earnestly seek after Spiritual Knowledge, place themselves at your feet and pray you to enlighten them. The boldness of their conduct naturally drew upon them public attention and reprobation of all influencial organs and persons whose worldly interests or private prejudices were linked with the established order.

We have been called atheists, infidels and pagans.

We need the assistance not only of the young and enthusiastic, but also of the wise and venerated. For this reason we come to your feet as children to a parent and say, 'look at us, our teacher, teach us what we ought to do- Give us your counsel, your aid."

See that we approach you not in pride but humility, that we are prepared to receive your counsel do our duty as it may be shown to us.

(Sd.) Henry Olcott

President of the Theosophical Society

'सेवा में परम सम्मानित पण्डित दयानन्द सरस्वती भारतवर्ष सम्मानित गुरु,

आध्यात्मिक विद्या से प्रेम रखनेवाले कुछ अमेरिकन तथा अन्य विद्यार्थी, अपने को आपके चरणों में रखते हैं और प्रकाश की याचना करते हैं। उन लोगों के साहसिक व्यवहार ने कुदरतन उनकी ओर सर्व साधारण का ध्यान खींचा है और उन समाचारपत्रों तथा व्यक्तियों की ओर से, जिनके दुनियावी हित या निजी संस्कार पहले से विद्यमान स्थिति के साथ बंधे हुए हैं, उनका विरोध किया गया है।

हमें नास्तिक, अविश्वासी और धर्महीन कहा गया। हम केवल युवक और जोशीले लोगों की ही सहायता नहीं चाहते, बुद्धिमान् और सम्मानित लोगों की सहायता भी चाहते हैं। इस कारण हम आपके चरणों में इस प्रकार आते

हैं जैसे पिता के चरणों में पुत्र आता है, और कहते हैं- हमारे गुरु महाराज! हमारी ओर देखिये और बताइए कि हमें क्या करना चाहिए।

देखिये कि हम आपकी सेवा में अभिमान से नहीं अपितु नम्रता से आते हैं और हम आपकी सलाह लेने और दिखाए हुए मार्ग पर चलकर कर्त्तव्यपालन के लिए उद्यत हैं।

(हस्ताक्षर) हैनरी अल्कॉट
प्रेसीडेण्ट, थियोसोफिकल सोसाइटी

यह पत्र थियोसोफिकल सोसाइटी के प्रधान की ओर से था। यह सोसाइटी 1875 ई० के नवम्बर मास की 17 तारीख को अमेरिका में स्थापित हुई थी। सोसाइटी की संस्थापना मैडम ब्लैवेट्स्की और कर्नल अल्कॉट के उद्योग से हुई थी। मैडम ब्लैवेट्स्की रूस में बसे एक जर्मन-परिवार में उत्पन्न हुई थी। 17 वर्ष की आयु में उसका एन.वी. ब्लैवेट्स्की के साथ विवाह हुआ। विवाह के तीन महीने बाद मैडम ब्लैवेट्स्की पति को छोड़कर भाग निकली। भागकर बरसों तक मैडम ने संदिग्ध जीवन व्यतीत किया, और पति के जीवित रहते ही मैट्रोविच नाम के एक पुरुष से सम्बन्ध स्थापित किया। बहुत समय तक नाम बदलकर और उसकी विवाहिता स्त्री की भांति बनकर मैडम ब्लैवेट्स्की मैट्रोविच के साथ रही। इसी सम्बन्ध से एक लड़का भी उत्पन्न हुआ, जिसके बारे में बाद में मैडम ने बहुत-सी आध्यात्मिक कल्पना करके लोगों को समझाने का यत्न किया। मैट्रोविच का साथ छोड़ने पर मैडम बहुत समय तक मिश्र की राजधानी काहिरा में रही। यहां पर मैडम को बहुत-से जादूगरों और जोगियों से मिलने का मौका मिला, जिनसे उसे चमत्कारों का रहस्य पता चला, और स्वयं भी बहुत-से हस्तलाघव करने लगी। 1873 में मैडम मिश्र से रूस आ गई, और आध्यात्मिक विद्या के विषय में लिखकर अपना निर्वाह करने लगी। मिश्र में सीखा हुआ जादू यहां मैडम के बहुत काम आया। Spiritualism पर लेख लिखकर वह अपनी पेट पालना कर लेती थी।

1875 के अप्रैल मास में मैडम ने माइकेल थैटले नाम के आर्मीनियन के साथ विवाह कर लिया था। इस विवाह के समय मैडम ने दो झूठ बोले। उसका पहला पति जीता था, तो भी उसने अपने को विधवा प्रसिद्ध करके दूसरे पुरुष से विवाह कर लिया। वह इस समय 43 वर्ष की थी, परन्तु उसने अपने को 36 वर्ष का लिखाया। यह विवाह भी देर तक स्थिर न रह सका। शीघ्र ही दोनों में झगड़ा हो गया, और तलाक ने असत्यमूलक सम्बन्ध का विच्छेद कर दिया। रूस में बदनाम होकर मैडम ने अमेरिका में आश्रय लिया और आध्यात्मिक

विद्या पर लेख लिखकर अपना निर्वाह जारी रखा। 1874 में मैडम का कर्नल अल्कॉट से परिचय हुआ। कर्नल अल्कॉट पहले सिपाही था, परन्तु उस समय एक समाचारपत्र के संवाददाता के रूप में एक आध्यात्मिक घटना की छानबीन में लगा हुआ था। दोनों आध्यात्मिक ज्ञान की चर्चा से निर्वाह करने वाले चिटण्डन नाम के नगर में मिले, और मिलकर दोनों ने अनुभव किया कि हम एक-दूसरे के लिए आवश्यक हैं। दोनों ने मिलकर आध्यात्मिक ज्ञान की चर्चा को बढ़ाने का यत्न करने का निश्चय किया। दोनों पुस्तकें लिखते और उनकी आय से निर्वाह करते, परन्तु फिर भी अमेरिकन लोग उनके दिये हुए ज्ञान को इतना मूल्यवान् नहीं समझते थे कि उन ग्रन्थों से दोनों का गुजारा भली प्रकार हो सके। 18 जुलाई 1875 का मैडम का एक पत्र है जिसमें वह लिखती हैं-

"Here, you see, is my trouble. Tomorrow there will be nothing to eat- Something quite out the way must be invented. It is doubtful if Olcott's 'Miracle club' will help, will fight to the last."

'मेरी कठिनाई यह है। कल के खाने के लिए कुछ नहीं है। कोई बिल्कुल नया ढंग बनाना चाहिए। यह संदिग्ध है कि अल्कॉट की चमत्कार सभा कुछ सहायता दे सकेगी। मैं आखिर तक लड़ूंगी।'

भोजन की भी दिक्कत थी। उस दिक्कत को दूर करने के लिए कर्नल अल्कॉट ने मिरेकल क्लब नाम से एक चमत्कार दिखाने वाली सभा बनाई थी, परन्तु उससे भी काफी आय नहीं हुई। कुछ पुस्तकें लिखी गईं; उनसे अन्न-कष्ट दूर न हुआ। तब आखिर तंग आकर इस युगल ने थियोसॉफिकल सोसाइटी बनाने का निश्चय किया। 17 नवम्बर 1875 को सोसाइटी की स्थापना हुई। कर्नल प्रधान बने और मैडम ने मंत्रिणी का कार्य संभाला। खजांची का कार्य एक लखपति को सौंपा गया, जिससे सोसाइटी के अधिकारियों की बहुत-सी चिन्ताएं दूर हो गईं।

1877 में मैडम ब्लैवेट्स्की की प्रसिद्ध पुस्तक Isis unveiled प्रकाशित हुई। पुस्तक अपने ढंग की अनूठी थी। उसमें प्राचीन धर्मों का समर्थन था, ईसाइयत पर बहुत आक्षेप था, और जादू तथा चमत्कार की सम्भवता दिखाई गई थी। उस पुस्तक पर वैज्ञानिक और दार्शनिक लोगों ने अधिक्षेपभरी दृष्टि डाली, और ईसाई खीझ गए, परन्तु सर्वसाधारण को अनूठेपन ने बहुत खेंचा। लोगों को उस पुस्तक-लेखिका की लेखनशैली अद्भुत लगी। आशा हुई कि समय और श्रम की कीमत निकल आएगी, परन्तु दैव को कुछ और ही अभीष्ट था। Isis के छपने के कुछ समय पीछे मिस्टर कोलमैन ने भी आलोचना की,

जिसमें यह सिद्ध किया कि मैडम की पुस्तक में कुछ नवीनता नहीं है, सब कुछ लगभग सौ पुस्तकों से उद्धृत किया हुआ है। उन्हीं दिनों में मि० होम की Light and Shadows of Spiritualism नाम की पुस्तक प्रकाशित हुई, जिसमें थियोसॉफी के लीडरों की पोल खोलने का यत्न किया गया। मि० कोलमैन की आलोचना और मि० होम के आक्रमणों ने थियोसॉफी के नेताओं की स्थिति असम्भव बना दी। ईसाई पहले ही खीझे हुए थे, Isis की पोल खुल जाने से थियोसॉफी के संस्थापक बड़ी विपदा में पड़े। अब तक कर्नल अल्कॉट और मैडम ब्लैवेट्स्की यदि कुछ थे तो Spiritualist थे, और कुछ नहीं थे। न वे हिन्दू थे, न बौद्ध थे। यदि आत्मा उनसे बातें करती थी तो किंग जान की। अमेरिका में उनकी स्थिति बहुत बिगड़ गई। उनके लिए उस देश में रहना असम्भव हो गया। यह दशा 1877 में हुई। मैडम ब्लैवेट्स्की ने उस समय एक पत्र लिखा, जिसका निम्नलिखित उद्धरण लेखिका की मानसिक दशा को चित्रित करके बताता है कि युगल को भारत की ओर प्रेरित करने का क्या कारण हुआ और 1878 में महर्षि दयानन्द को कर्नल अल्कॉट की जो चिट्ठी मिली, उसकी तह में क्या बात थी। पत्र में मैडम लिखती हैं–

"It is for this that am going forever to India, and for very shame and veñation, I want to go where no one will know my name. Home's malignity has ruined me forever in Europe."[1]

'मैं इसलिए भारत को जा रही हूं कि लज्जा और खिजलाहट से तंग आकर मैं ऐसी जगह जाना चाहती हूं जहां मेरा नाम भी कोई न जानता हो। होम के द्वेष ने यूरोप में सदा के लिए मेरा नाश कर दिया।'

इस प्रकार अमेरिका और यूरोप में बेइज्जत और बदनाम होकर थियोसॉफी के संस्थापकों ने भारत के भोले–भाले निवासियों का उद्धार करने का निश्चय किया। इतनी प्रस्तावना को पढ़कर पाठक समझ सकेंगे कि थियोसॉफी के नेताओं ने महर्षि दयानन्द को ऐसे नम्रताभरे पत्र क्यों लिखे। वे अमेरिका और यूरोप में बिल्कुल बदनाम हो चुके थे। वहां उनका रहना असम्भव था। भारत में पैर जमाने का यही उपाय था कि किसी शक्तिशाली व्यक्ति का आश्रय लिया जाय। श्रीयुत हरिश्चन्द्र चिन्तामणि से कर्नल अल्कॉट को महर्षि का परिचय मिला था। उस परिचय से लाभ उठाकर थियोसॉफी के प्रेसीडेण्ट ने महर्षि दयानन्द को अधीनता भरे पत्र लिखने आरम्भ किये।

1. मैडम के पत्रों के उद्धरण जे०ए० फर्कहर की Modern Religious Movements in India की पुस्तक से लिये गए हैं।

इस परिच्छेद के प्रारंभ में जो पत्र दिया गया है, उसके पीछे थियोसॉफी की ओर से हरिश्चन्द्र चिन्तामणि द्वारा महर्षि जी के पास बराबर पत्र आते रहे। 21 मई के पत्र में कर्नल अल्कॉट लिखते हैं-

''जब मैं यह इशारा देता हूं कि हमारी सोसाइटी पण्डित दयानन्द सरस्वती की और मेरी पथदर्शकता में आर्यसमाज की शाखा विख्यात की जाय, तब मैं ऐसे बुद्धिमान् और पवित्र मनुष्य को शिक्षक और मार्गदर्शक मानने के कारण गर्व का अनुभव करता हूं।''

22 मई सन् 1878 के पत्र में थियोसॉफी सोसाइटी रिकर्डिक के सेक्रेटरी अगस्टस गुस्टम लिखते हैं-

आर्यसमाज के मुखिया के नाम,

आपको आदरपूर्वक सूचना दी जाती है कि 22 मई 1878 को न्यूयॉर्क में थियोसॉफिकल सोसाइटी की कौंसिल का जो अधिवेशन प्रेसीडेण्ट की अध्यक्षता में हुआ था, उसमें वाइस प्रेसीडेण्ट ए० विल्डर के प्रस्ताव और कारस्पांडिंग सेक्रेटरी एच०पी० ब्लैवेट्स्की के अनुमोदन पर सर्वसम्मति से यह निश्चय किया गया कि सोसाइटी आर्यसमाज से मिल जाने के प्रस्ताव को स्वीकार करती है और यह भी स्वीकार करती है कि इस सोसाइटी का नाम शदि थियोसॉफिकल सोसाइटी ऑफ दि आर्यसमाज ऑफ इण्डिया रख दिया जाय।

निश्चय हुआ कि थियोसॉफिकल सोसाइटी अपने और यूरोप तथा अमेरिका में विद्यमान अपनी शाखाओं के लिए आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती को नियमानुसार पथदर्शक या मुखिया अंगीकार करे।

इस प्रकार थियोसॉफिकल सोसाइटी ने आर्यसमाज से उस समय सम्बन्ध स्थापित किया, जिस समय अमेरिका के निवासी सोसाइटी के संचालकों को यह पता नहीं था कि कल का भोजन कहां से मिलेगा। वहां वे खूब बदनाम और तंग थे। पूर्वांकित पत्रों से स्पष्ट होता है कि उस समय सोसाइटी के नेता महर्षि जी को गुरु मानने में अपना सौभाग्य समझते थे, और सब तरह से आर्यसमाज की संस्था में आने को तैयार थे। अन्त में बहुत-से पत्र-व्यवहार के बाद, थियोसॉफिस्ट- युगल 1879 के जनवरी मास में बम्बई पहुंच गया, और जिसे गुरु माना था, उसके चरणों में भेंट रखने की उत्सुकता प्रकट करने लगा।

पहले पहल यह युगल महर्षि जी से सहारनपुर में मिला। इसके बाद कई स्थानों पर महर्षि जी के साथ यह युगल घूमता रहा। महर्षि जी के शिष्य

इन अपने को आर्यसमाजी कहने वाले थियोसॉफिस्टों के व्याख्यान करवाने लगे, और उनका आदर-सत्कार करने लगे। लगभग एक साल तक यही प्रेम-सम्बन्ध स्थापित रहा और थियोसॉफिस्टों की भक्ति उमड़ती रही। इतना समय भारत में पांव जमाने और बहुत-से शिष्य इकट्ठे करने के लिए पर्याप्त था। अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतवासी उस युगल की बातों को सुनना पसन्द करने लगे। लगभग वर्षभर प्रेम-सम्बन्ध जारी रहने के पीछे नए रंग दिखाई देने लगे।

झगड़े के मुख्य कारण तीन हुए। भारतवर्ष में आकार थियोसॉफिस्ट-युगल को ज्ञात हुआ कि जिस व्यक्ति को वे गुरु बनाकर आए हैं, वह गुरु ही रहेगा, शिष्य नहीं बन सकता। युगल समझता था कि वह पं० दयानन्द को अपनी वृद्धि का साधन बना सकेगा, परन्तु उसे शीघ्र ज्ञात हुआ कि यह भारतीय पण्डित ऐसा भोला नहीं कि हथियार बन सके।

दूसरी ओर युगल ने देखा कि भारतवर्ष में अज्ञान और श्रद्धा की मात्रा बहुत अधिक है। कोई भी आदमी आकर गुरु बनना चाहे तो सर्वथा निराश नहीं होगा, कुछ-न-कुछ शिष्य उसे मिल ही जाएंगे। ऐसी दशा में थियासॉफी के संस्थापकों ने यही उत्तम समझा कि अपनी दुकान अलग खड़ी की जाय। आने से पूर्व वे आर्यसमाजी थे, आकर शीघ्र ही उन्हें ज्ञात हुआ कि उनके सिद्धान्त आर्यसमाज की अपेक्षा बौद्धों के साथ अधिक मिलते हैं।

तीसरी शिकायत इन्हीं दो शिकायतों के परिणामस्वरूप थी। थियोसॉफी सोसाइटी आर्यसमाज की शाखा थी। जो लोग थियोसॉफी के सभ्य थे, वे वस्तुतः आर्यसमाज के ही सभ्य समझे जा सकते थे। ऐसी दशा में यह सोचना भी असंगत था कि आर्यसमाज के सभासद् थियोसॉफी के सभासद् बनाए जायँ। जो मूल संस्था का सभ्य है उसे शाखा का सभ्य बनने की क्या आवश्यकता है? परन्तु कर्नल अल्कॉट तथा मैडम ब्लैवेट्स्की ने आर्यसमाज के सभासदों को अपने सभासद् बनाना प्रारम्भ कर दिया। इस व्यवहार को महर्षि जी ने अनुचित समझा। ये तीन बातें मूल में थीं। वे थियोसॉफी के लीडर, जिन्हें अपने सिद्धान्त आर्यसमाज के ऐन अनुकूल दिखाई देते थे, शीघ्र ही संसार के कर्ता ईश्वर और आर्यसमाज से इन्कार कर बौद्धों में नाम लिखाने लगे। अमेरिका में मैडम ब्लैवेट्स्की के अन्दर केवल किंग जॉन की आत्मा प्रवेश करती थी, परन्तु भारत में आते ही हिमालय निवासी महात्मा और उनके प्रतिनिधि महात्मा कूटहुमी से मैडम का परिचय हो गया, और हिमालय से सीधे सन्देश पहुंचने लगे।

सबसे बड़ा कारण, जिससे मतभेद पैदा हो गया, यह था कि थियोसॉफी के संस्थापक चमत्कारों को अपने धर्म का सिद्धान्त मानने और उद्घोषित करने

लगे। चमत्कारों को वे योगसिद्धि नाम से पुकारते थे, परन्तु योग के बिना ही योगसिद्धि नाम से पुकारते थे, परन्तु योग के बिना ही योगसिद्धि का दावा करते थे। सिद्धियां भी विचित्र थीं। किसी की गुम हुई वस्तु का पता दे दिया, किसी के दिल की बात बूझने की अटकल लगा दी। ऐसे चमत्कार थे, जिन्हें दिखाकर थियोसॉफी लोगों के हृदयों में योग के प्रति श्रद्धा का संचार करना चाहती थी। थियोसॉफी के उस समय के चमत्कारों के दो दृष्टान्त दिये जाते हैं, उन पर दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जाएगा कि आर्यसमाज के संस्थापक के विचार थियोसॉफी के विचारों से क्यों नहीं मिल सकते थे।

मैडम ब्लैवेट्स्की शिमला में थीं। प्रसिद्ध मि० ए०ओ० ह्यूम के घर पर कुछ को निमन्त्रण था। उनमें मैडम ब्लैवेट्स्की भी शामिल थीं। भोजन के पीछे यह बात उठी कि मैडम अपना कोई आध्यात्मिक चमत्कार दिखावें। मैडम तैयार हो गईं। घरवालों से उन्होंने पूछा कि क्या आप लोगों की कोई वस्तु गुम हुई है? उत्तर से पता चला कि कुछ रोज हुए, मि० ह्यूम के घर से एक आभूषण गुम हुआ था। मैडम ने कुछ देर तक ध्यान करके बाग का वह स्थान बता दिया, जहां गुम हुई वस्तु गड़ी थी। वस्तु मिल गई, और चमत्कार की धूम दिग्दिगन्तर में फैल गई।

कुछ दिन पीछे इंगलिश मैन, बॉम्बे गजट, टाइम्स ऑफ इण्डिया और सिविल मिलिटरी गजट में चिट्ठियां प्रकाशित हुईं, जिनसे रहस्य का उद्घाटन हो गया। एक अंग्रेज नौजवान शिमला से बम्बई गया, और वहां मैडम से मिला। शिमला में वह मि० ह्यूम के यहां बहुत आया-जाया करता था। बम्बई के मि० होर्मसजी सीराबाई ने गवाही दी कि जैसा गहना चमत्कार से मिला है, ठीक वैसे ही गहने की मैडम ब्लैवेट्स्की ने उससे मरम्मत करवाई थी। रहस्य को खोलकर ऐतिहासिक घटना बना देना कुछ कठिन नहीं है। वह गहना मि० ह्यूम के घर से उड़ाया गया। बम्बई में उसकी मरम्मत करवाकर मैडम अपने साथ शिमला ले गई और चमत्कार दिखाकर थियोसॉफी की सत्यता सिद्ध कर दी।

दूसरी घटना लाहौर में हुई। 1883 के अप्रैल मास में थियोसॉफी के महात्माओं का एक चेला लाहौर पहुंचा। मैडम ब्लैवेट्स्की के शिष्य ने बड़े जोर से उनका ढोल बजाया और यह घोषणा कर दी कि वह चेला चमत्कार दिखाएगा। वह अपनी उंगली आगे करेगा। पहले तो उंगली को कोई काट ही नहीं सकेगा, यदि काट भी सके तो वह झटपट जुड़ जाएगी। भरी सभा में चमत्कार की घोषणा कर दी गई। पहले तो किसी हिन्दू का हृदय ऐसे कठोर कार्य के लिए तैयार न हुआ, परन्तु जब बहुत देर हो गई, और लोगों के

दयाभाव का अभिप्राय यह निकाला जाने लगा कि चेले की शक्ति से किसी का हाथ नहीं उठता, तब एक सिख ने हिम्मत करके उंगली काट दी। बेचारा चेला चक्कर में आ गया। उंगली का जुड़ना तो क्या था, बेचारा कई दिनों तक दु:ख भोगता और महात्माओं के नाम का जाप करता रहा।

ऐसी घटनाओं को सुनकर आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि कैसे चुप रह सकते थे! वह दम्भ और धोखे के शत्रु थे। वह धर्म में सुलहनामा करने पर विश्वास नहीं रखते थे। फलस्वरूप महर्षि जी को थियोसॉफी के संस्थापकों के असत्य व्यवहार पर घृणा होने लगी। उधर मूर्ख जनता को जाल में फंसाने का खुला अवसर देखकर वह युगल भी महर्षि जी की शिष्यता से इन्कार करने का उपाय सोचने लगे।

कुछ दिनों तक पत्र-व्यवहार जारी रहा। मैडम ब्लैवेट्स्की और कर्नल अल्कॉट का यत्न यह रहा कि किसी प्रकार आर्यसमाज के सभासदों को थियोसॉफी के चंगुल में फंसाया जाए। एक ओर थियोसॉफी की ओर से सृष्टिकर्त्ता ईश्वर से इन्कार, दूसरी ओर चमत्कारों का दम्भ! महर्षि ने आवश्यक समझा कि आर्यपुरुषों को सचेत कर दिया जाय।

आश्विन-असौज बदी चतुर्दशी संवत् 1937 को मेरठ के आर्यसमाज का दूसरा वार्षिकोत्सव था। इस उत्सव के अवसर पर महर्षि जी के दो व्याख्यान हुए। इन व्याख्यानों में आपने उन कारणों पर प्रकाश डाला, जिनसे आर्यसमाज थियोसॉफी से अलग होने पर बाधित हुआ और यह भी घोषणा की कि किसी आर्यसमाजी को थियोसॉफी का सभ्य न बनना चाहिए। दोनों में कई मौलिक भेद उत्पन्न हो गए थे- (1) थियोसॉफिस्ट सृष्टिकर्त्ता ईश्वर को नहीं मानते थे। (2) वे अपने को बौद्ध कहते थे। (3) वे हिमालयवर्ती किन्हीं कल्पित महात्माओं के होने, और उनके गुप्त सन्देशों पर विश्वास रखते थे। (4) वे सिद्धियों के नाम पर चमत्कारों को मानते और उनका दावा भी करते थे। (5) थियोसॉफी में ईसाई, मुसलमान, बौद्ध, हिन्दू, सब एक-दूसरे के विरुद्ध सिद्धान्तों को मानते हुए प्रविष्ट हो सकते थे। इस प्रकार थियोसॉफी आर्यसमाज से कोसों दूर चली गई थी। महर्षि दयानन्द की ओर से यह घोषणा आवश्यक हो गई थी, अन्यथा आर्यसमाज के नाश का भारी भय था। थियोसॉफी में कई ईसाई भी शामिल हो गए थे। उनमें से अनेक राजकर्मचारी भी थे। थियोसॉफी के संचालक चाहते थे कि राज्य के कर्मचारियों की सहानुभूति का प्रलोभन देकर ही आर्यसमाज को फुसलाया जाय, परन्तु वह हथियार भी निकम्मा साबित हुआ।

मेरठ में महर्षि दयानन्द द्वारा हुई घोषणा से कर्नल अल्कॉट और मैडम ब्लैवेट्स्की के कल्पित कार्यक्रम को भारी धक्का पहुंचा। वे दिल में सोचे बैठे थे कि अब शीघ्र ही सारे आर्यसमाज हमारे काबू में आ जाएंगे और थियोसॉफी, जो प्रारम्भ में आर्यसमाज की शाखा बनी थी, उसे खा जाएगी। महर्षि के व्याख्यान ने इस मीठे मन्सूबे को तोड़ दिया। उस समय मैडम ब्लैवेट्स्की शिमला में थीं। वहां उन्हें महर्षि जी की घोषणा का समाचार मिला। वह बहुत छटपटाई और मेरठ के बाबू छेदीलाल जी के नाम उन्होंने एक चिट्ठी भेजी। चिट्ठी बहुत लम्बी है, इस कारण उसके कुछ आवश्यक उद्धरण ही यहां दिये जाते हैं। चिट्ठी अंग्रेजी में थी, यहां उसका अनुवाद दिया गया है-

''..... मेरठ आर्यसमाज का वार्षिकोत्सव अभी मनाया गया है। उसमें अन्यान्य आर्यसमाज के सभासद् सम्मिलित थे। ऐसे समय महर्षि जी ने अपने व्याख्यान में सबके सामने ये विचित्र वचन कहे कि जब किसी अन्य सभा-समाज के सभ्य आर्यसमाजियों को अपनी सभा में भरती होने के लिए प्रेरणा करें तो उन्हें यह उत्तर देना चाहिए कि यदि आपकी सभा के नियम और उद्देश्य आर्यसमाज से मिलते हैं तो उसमें सम्मिलित होने से कोई लाभ नहीं है। यदि वे कहें कि हमारे नियम आर्यसमाज के नियमों से भिन्न हैं तो आर्यसमाजियों को उत्तर देना चाहिए कि आर्यसमाज के नियम अखंडित हैं। जिस सभा के नियम खण्डित हैं, उसमें मिल जाने की हमें आवश्यकता नहीं है।

यथार्थ में रोम का अभ्रान्तिशील पोप इससे अधिक और क्या कह सकता है? महर्षि जी गर्वित ब्राह्मणों के दावों के विरोधी हैं। उनके कहने का यह तात्पर्य कदापि न होगा।

उन्होंने यह भी कहा कि 'अन्य देशियों के समाज में वैसा मित्रभाव और स्नेह नहीं हो सकता, जैसा कि एक ही मत और देश के आर्यसभासदों में होता है....'

हमने आपके बिना किसी भी आर्यसमाजी को अपनी सभा में मिलाने का यत्न नहीं किया। हां, मुम्बई, लाहौर और दूसरे नगरों के आर्यसमाजी हमारी सभा के सभासद् हैं। परन्तु उनको सम्मिलित होने के लिए हमने नहीं कहा।

हमारे नियमों में आर्यसमाज से इतनी प्रतिकूलता है कि हम प्रत्येक सभ्य के धर्म की प्रतिष्ठा करते हैं। प्रत्येक मतावलम्बी को चाहे वह आर्यसमाजी हो, ईसाई हो अथवा मूर्तिपूजक हो, हम सभा में मिला लेते हैं।

इसी हेतु से मैंने आपको और दो-एक अन्य सज्जनों को सभा में भरती होने की सम्मति दी थी।

रही यह बात कि आर्यसामाजिक हममें मिलें या न मिलें, इसकी हमें परवाह नहीं। इसमें उन्हीं की और कदाचित् समाजों की हानि है।

पुलिस के सबसे बड़े अधिकारी हेण्डरसन महाशय सभा में सम्मिलित हुए हैं। इससे हमारा अभीष्ट सर्वथा सिद्ध हो गया। हमारी सभा में सम्मिलित होते हुए उन्होंने कहा कि मैं इसमें इसलिए मिलता हूं कि इससे बड़े-बड़े लाभ पहुंचे हैं। आप और अल्कॉट ने 18 मास में वह बात प्राप्त कर ली है जो हम अंग्रेज बहुत वर्षों में कभी नहीं कर पाए। उन्होंने यह भी कहा कि हिन्दुस्तानियों और अंग्रेजों के बीच जो खाई है, उसे आप भर रहे हैं। आपके कारण हम उनकी अधिक प्रतिष्ठा करने लगे हैं और वे हमसे घृणा छोड़ रहे हैं। वे हमारे काम की प्रतिष्ठा करते और उसे श्रेष्ठ समझते हैं। मुझे आशा है कि जैसे उनके विचार हैं, वे वैसा ही कर दिखाएंगे। परन्तु जब महर्षि जी का प्रसंग चला तो उन्होंने भी यह कहा कि थियोसॉफी के समान महर्षि जी की सम्मति नहीं है। उनके विचार अनिषेधक और उदार नहीं दीखते। आर्यसमाज ईश्वर को हर्ताकर्ता माननेवालों का एक जत्था है। ऐसी दशा में हम उनको भाइयों के सदृश क्यों मानें...इत्यादि।

महर्षि जी ने इस पत्र का विस्तृत उत्तर भेजा। उस उत्तर के भी कुछ भाग उद्धृत किये जाते हैं-

प्रथम आप लोगों ने जैसा लिखा था, जैसा प्रथम समागम में विदित किया था, उसके अनुसार अब आपका वर्ताव कहां है?

वे पत्र छाप दिये गए हैं जिनमें आपने लिखा था कि हम संस्कृत अध्ययन करेंगे, और अपनी सभा को समाज की शाखा बना देंगे। जो पत्र मैंने आपके पास भेजे थे, उनकी नकल भी मेरे पास है। देखिये, थोड़े दिन हुए जब आपसे मेरठ में आर्यसमाज और थियासॉफी सभी के विषय में बातचीत हुई थी, उस समय मैंने सबके सामने क्या आपसे नहीं कहा था कि समाज के विषयों से सभा के नियमों में कुछ भी विशेषता नहीं है? यह बात मैंने बम्बई में भी पत्र द्वारा सूचित की थी। वैसे ही मैं अब भी मानता हूं कि आर्यसमाजस्थों को धर्मादिक विषयों के लिए सभा में मिलना उचित नहीं है।

अब विचारणीय विषय यह है कि ऐसी दशा में थियोसॉफी वालों को आर्यसमाज मैं मिलना चाहिए अथवा आर्यसमाजियों को उस सभा में? देखिये, मैंने अथवा किसी आर्य सभासद् ने आज तक किसी भी थियोसॉफिस्ट को आर्यसमाज का सभासद् बनाने का यत्न नहीं किया। आप अपने आत्मा में विचारिये कि आपने क्या किया और क्या कर रही हैं? आपने कितने ही

आर्यसमाजियों को अपनी सभा में भर्ती होने के लिए प्रेरणा की। कई सज्जनों से सभासद् बनने का दस रुपये चन्दा भी लिया।

अन्य देशियों के समाज में भिन्नता और स्नेह वैसा कभी नहीं हो सकता, जैसा कि स्वदेशियों के समाज में होता है- यह बात मैंने उस समय कही थी, अब कहता हूं और आगे भी कहूंगा। परन्तु ऊपर की बात मैंने जिस प्रसंग पर कही थी वह यह है कि ''असिद्धं बहिरंगमन्तरंगे'' अर्थात् जिनका देश एक है, भाषा एक है, जन्म और सहवास एक है, जिनके विवाहादि सम्बन्ध परस्पर होते हैं, उनको परस्पर जितना लाभ होता है उनकी जितनी परस्पर प्रीति होती है, उतना लाभ और उन्नति भिन्न देशवासियों को भिन्न देशवासियों से नहीं हो सकती। देखिए, केवल भाषा का ही भेद होने पर मुझको और यूरोपियन महाशयों को परस्पर उपकार करने में कितनी कठिनाई होती है?

आप जो लिखती हो कि आपके बिना बम्बई, लाहौर और दूसरे नगरों के आर्यसामाजिक हमारी सभा में सम्मिलित हैं, परन्तु हमने उनको भरती होने के लिए कभी नहीं कहा- यह सत्य नहीं है। आपने बम्बई में श्री समर्थदान जी आदि को और प्रयाग में पण्डित सुन्दरलाल जी आदि सभ्यों को सभा में सम्मिलित होने के लिए प्रेरित किया। इसका साक्षी मैं ही हूं। मैं जब तक न सुनता, तो इसका पता मुझे कैसे हो सकता था? जैसे मेरा नाम सभा के सभासदों में लिखती हो, वैसा अन्यत्र भी आपने किया होगा। यह बात निःसन्देह है।

इससे मैं आपसे पूछता हूं कि आपका धर्म क्या है? यदि आप कहें कि हमारा धर्म अमुक धर्म से विरुद्ध है, तो विरुद्ध धर्म वाला मनुष्य आपकी सभा में नहीं मिल सकता। यदि कहो कि हमारा धर्म किसी के विरुद्ध नहीं है तो उसमें कोई काहे को मिलेगा?

आप ईश्वर को हर्ताकर्ता नहीं मानतीं, यह इसी 1937 के भाद्रपद मास की बात है। इस विषय में आपने पहले कुछ नहीं कहा। हां. प्रमोददास मित्र और डॉ० लाजरस ने मुझसे काशी में इसकी चर्चा की थी। प्रमोददास को मैंने कहा कि आप मैडम का आशय नहीं समझे होंगे। मैंने दामोदर द्वारा आपसे पुछवाया तो उसने कहा कि वे ईश्वर को मानती हैं। क्या उक्त वार्ता असत्य है?..

मैं और सभी आर्य सज्जन सदा से यही मानते हैं कि सामान्यतः आर्यावर्त, इंग्लैण्ड और अमेरिका आदि सकल भूमण्डल के मनुष्य भाई हैं, परस्पर मित्र हैं और समान हैं। पर मानते हैं धार्मिक व्यवहारों के साथ, न कि असत्य और अधर्म के साथ।

यहां अंग्रेज आर्यों को चाहे जैसा मानें- कोई राज्याधिकारी हों अथवा व्यावहारिक हो, मुझको भी चाहे अपनी समझ के अनुकूल यथेष्ट मानें, परन्तु मैं तो सब मनुष्यों के साथ सुहृद्भाव से वर्तता आया हूं। इन लोगों का यह कहना कि हम इसका कोई दृढ़ हेतु नहीं देखते कि महर्षि जी के अनन्तर अन्य आर्यसमाजियों से भी वैसा ही वर्ते, तब तक है जब तक कि वे आर्यवर्तीय आर्यों का पूर्व इतिहास, आचार, नीति, विद्या, पुरुषार्थ आदि उत्तम गुणों को नहीं जानते, वेदादि शास्त्रों के सच्चे अर्थ को नहीं समझते। जब उनको ऊपर की बातों का ज्ञान हो जायगा तो उनका भ्रम अवश्य दूर हो जायगा।

आपको स्मरण हो कि काशी की चिट्ठी के उत्तर में आपने मुझे लिखा था कि यदि आप भी वेदों को छोड़ दें, तो भी हम नहीं छोड़ेंगे। आपकी यह बात धन्यवाद और प्रशंसा के योग्य है। यदि सभी यूरोपियन इस उत्तम बात में सहमत हो जाय तो कैसा आनन्द हो। और यदि वे लोग इस सिद्धान्त को न भी मानें तो हम आर्यों और आर्यसमाजों को कोई हानि नहीं हो सकती। हम तो सृष्टि के आदि से वेदों को मानते चले आए हैं। क्या हुआ जो थोड़े समय से, अज्ञानवश कुछ आर्य लोग वेद-विरुद्ध चलने लग गए हैं।

इस अवस्था में जिसका जी चाहे, आर्यसमाज में मिले। उनके न मिलने से हमारी कुछ हानि भी नहीं हो सकती। हां, उनकी हानि अवश्य है। हम तो सबकी उन्नति में अपनी उन्नति करना इष्ट मानते हैं। हमारी कामना भी यही है।

इस पत्र-व्यवहार से दो-तीन बातें स्पष्ट हो जाती हैं। थियोसॉफी के संचालक भारत के भोले हिन्दुओं और कुछेक अंग्रेजों का सहारा पाकर शिष्यता को त्याग चुके थे। वे लोग, जो शिष्य बनकर महर्षि जी के चरणों में बैठकर योग का अध्ययन करने आए थे, स्वयं गुरु और योगी बन बैठे थे। जो सोसाइटी आर्यसमाज की शाखा बनने में अपना सौभाग्य समझती थी, वह आर्यसमाजियों को अपने में सम्मिलित होने का निमन्त्रण दे रही थी। वह विनय और शिष्यभाव, गर्व और गुरुभाव में परिणत हो गए। आचार्य बन रहे थे। ।। कल के वेदानुयायी विद्यार्थी, आज सर्वमतवादी आचार्य बन रहे थे।

मेरठ के व्याख्यान और इन उद्धृत किये पत्रों ने आर्यसमाज और थियोसॉफी का सम्बन्ध तोड़ दिया। 1882 ई० के मई मास में आर्यसमाज के सामयिक पत्रों में हम यह घोषणा पाते हैं कि 'आर्यसमाज और थियोसॉफी का सम्बन्ध टूट गया है।'

आर्यसमाज से टूटकर थियोसॉफी क्या बनी और किधर चली, इसे यहां दिखाना अभीष्ट नहीं है। केवल यह दर्शाने के लिए कि थियोसॉफी के रूप

परिवर्तनों की तह में कौन-सा कारण था, हम उस पत्र की कुछ पंक्तियां उद्धृत करते हैं, जो 1922 में थियोसॉफी से त्यागपत्र देते हुए सोसाइटी के पुराने सेवक मि० बी०पी० वाडिया ने लिखी थी। आपने लिखा था-

"It (the Theosophical society) is no more a society of seekers of the wisdom but an organisation where many believe in the few and blind following has come to prevail where shams pass for realities and the credulity of superstition gains encouragement and where the noble ideals of the Theosophical Ethics are enploited and dragged in the mire of Psychism and immorality .... Time, energy and money spent in the T.S. have brought further knowledge that the eñisting conditions in the TS- are so deep rooted and so widespread that the disease is incurable, etc---"

''थियोसॉफिकल सोसाइटी सचाई को पहचानने का यत्न करने वालों की एक संस्था नहीं रही। यह एक ऐसी संस्था बन गई है जहां थोड़े व्यक्तियों पर अधिक व्यक्तियों का विश्वास है, जहां अन्ध परम्परा का राज्य है, और जहां थियोसोफिकल आचार-शास्त्र के उत्तम आदर्श भूतवाद और अनाचार के कीचड़ में घसीटे जाते थियोसोफिकल सोसाइटी पर जितना समय, शक्ति और धन व्यय किया जाता हैं... है, उन्होंने यह साबित कर दिया है कि सोसाइटी की बुराइयां इतनी गहराई तक पहुंची हुई हैं, और इतनी विस्तृत हैं कि उनका इलाज कठिन है, आदि।''

मि० वाडिया सोसाइटी के स्तम्भों में से एक थे। उन्होंने सोसाइटी के बारे में जो अन्तिम सम्मति दी है, वह सिद्ध करती है कि आर्यसमाज से सोसाइटी का सम्बन्ध तोड़ने में महर्षि दयानन्द ने कोई भूल नहीं की। प्रारम्भिक दशा की ही कमजोरियां थीं जो पीछे से ऐसा भयंकर रूप धारण करके मि० वाडिया जैसे भक्तों के डरने का कारण बनीं।

राजपूताना में कार्य

राजपूताना से महर्षि जी को बराबर निमन्त्रण आ रहे थे। चिरकाल से उनका विचार था कि राजपूताना के राजाओं का सुधार किया जाय। कई अवसरों पर महर्षि ने यह विचार प्रकट किया था कि भारत का भला तभी होगा, जब रजवाड़ों का उद्धार होगा; यदि राजा लोग सुधर जायं तो प्रजा के सुधरने में क्या विलम्ब हो सकता है! यह विश्वास महर्षि के हृदय में घर कर गया था। यही कारण था कि थोड़ी देर के लिए अपने विस्तृत कार्यक्षेत्र संयुक्तप्रान्त और पंजाब की ओर पीठ करके महर्षिराजपूताना की ओर रवाना हुए।

5 मई 1881 के दिन महर्षि दयानन्द राजपूताना के हृदयस्थानीय अजमेर शहर में पहुंचे, और धर्म का प्रचार आरम्भ किया। लगभग डेढ़ मास तक महर्षि का सिंहनाद अजमेर निवासियों के हृदयों को धर्म के मन्दिर में निमन्त्रण देता रहा। जून के अन्त में महर्षि ने अजमेर से मसूदा रियासत की ओर प्रस्थान किया। मसूदा नरेश ने महर्षि जी का बड़ी भक्ति से स्वागत किया। धर्म-प्रचार का अटूट क्रम जारी रहा। इस रियासत में बहुत से हिन्दू ऐसे थे, जो मुसलमानों के राज्यकाल में मुसलमान हुए राजपूतों को लड़कियां देने में कुछ भी संकोच नहीं करते थे। महर्षि जी ने उन लोगों को समझाया कि जिनका धर्म भिन्न है, उन्हें कन्या देकर अपनी कन्याओं को धर्मच्युत करना कभी न्याय नहीं है।

मसूदा से महर्षि दयानन्द रायपुर रियासत में पहुंचे। रायपुर के ठाकुर ने बड़ा सत्कार किया और धर्म प्रचार का प्रबन्ध कर दिया। यहां के मन्त्री शेख इलाहीबख्श नाम के एक मुसलमान थे। इस कारण रियासत में मुसलमानों का काफी जोर था। यहां पर काजी जी से खूब बहस रही, जिसका परिणाम अच्छा हुआ। रायपुर से आसन उठाकर महर्षि जी ब्यावर और बड़ौदा होते हुए 26 अक्टूबर 1881 को आर्यजाति के केन्द्र, राजपूताना के शिरोमणि चित्तौड़गढ़ में विराजमान हुए।

चित्तौड़गढ़ में उस समय बड़ी धूमधाम थी। लॉर्ड रिपन ने चित्तौड़ में एक बड़ा दरबार बुलाया था। राजा-महाराजा इकट्ठे हुए और सत्संग का बड़ा सुन्दर अवसर था। महर्षि जी का आतिथ्य उदयपुर रियासत की ओर से था। वहां के राजकवि श्यामलदास जी महर्षि जी के भक्त थे। उन्होंने महर्षि जी

के विश्राम का पूरा प्रबन्ध कर रखा था। राजपूतों के इस संघ में महर्षि जी को प्रताप और दुर्गादास की सन्तान की दशा देखने का अवसर मिला। कहां वे स्वाधीन शेर, कहां ये राज्य और इन्द्रियों के बंधुए! महर्षि ने राजपूताने की दशा को रोते हुए हृदय से देखा। जो लोग वीरता के आदर्श, मान के पुजारी और स्वाधीनता के पुतले थे, वे महर्षि दयानन्द को विलासिता के दास, अफीम के पुजारी और अंग्रेजी सरकार के बंधुए दिखाई दिये। महर्षि के शिष्य स्वामी आत्मानन्द जी ने एक घटना बताई है। अपने शिष्यों के साथ महर्षि एक दिन चित्तौड़गढ़ का किला देखने गए। जिस महर्षि दयानन्द की आंखों में पिता और बहनों का वियोग तरी न ला सका, चित्तौड़गढ़ की दशा देखकर उनकी आंखों से झर-झर आंसू बहने लगे। महर्षि ने एक ठण्डी सांस लेकर निम्नलिखित आशय के वाक्य कहे 'ब्रह्मचर्य का नाश होने से भारतवर्ष का नाश हुआ है, और ब्रह्मचर्य का उद्धार करने से ही फिर देश का उद्धार हो सकेगा आत्मानन्द। हम चित्तौड़गढ़ में गुरुकुल बनाना चाहते हैं।'

महर्षि जी के व्याख्यानों में कई राजा नियमपूर्वक आया करते थे। शाहपुरा रियासत के नाहरसिंह जी महर्षि जी के भक्तों में से थे। वह सत्संग में प्रायः रोज आते थे। महाराणा सज्जनसिंह अब तक महर्षि जी के दर्शनों को नहीं आए थे। एक दिन उपदेश में एक भक्त मूर्ति राजपूत पधारे। राजपूतों ने उन्हें बड़ा आदर दिया। व्याख्यान के अन्त में महर्षि ने शाहपुराधीश से कहा कि आपका (अभ्यागत महोदय का) पहले तो कभी साक्षात्कार नहीं हुआ दीखता। आपकी शोभा वर्णन कीजिए। शाहपुराधीश ने उत्तर दिया कि आप महाराणा श्री सज्जनसिंह जी हैं। इस प्रकार इन दो महान् व्यक्तियों का परिचय हुआ। महाराणा सज्जनसिंह यों तो अन्य राजपूत राजाओं की भांति ही पराधीन थे, परन्तु पराधीनता में भी उनके अन्दर एक विशेष महानुभावता पाई जाती थी। उनका हृदय विशाल था, विचार उदार थे, चरित में स्वाधीनता की बू थी। उस समय से महर्षि की मृत्यु-पर्यन्त दोनों महानुभावों का शिष्य-गुरु-भाव अटूट और सन्निहित रहा।

चित्तौड़गढ़ की एक और घटना भी स्मरणीय है। महर्षि दयानन्द अपने कुछ भक्तों के साथ घूमने जा रहे थे। रास्ते में एक वटवृक्ष के नीचे दो-तीन मूर्तियां थीं। जब पास से गुजरे तो महर्षि ने अपना सिर झुका दिया। इस पर एक शिष्य ने कहा कि 'महाराज! चाहे देवमूर्ति का कितना खण्डन कीजिये, पर उसका ऐसा प्रभाव है कि पास जाकर सिर झुक ही जाता है।' इस पर महर्षि खड़े हो गए। पास ही छोटे-छोटे बालक खेल रहे थे। उनमें एक चार

वर्ष की नंगी बालिका भी थी। महर्षि ने उधर इशारा करते हुए कहा कि 'देखते नहीं हो, यह मातृशक्ति है, जिसने हम सबको जन्म प्रदान किया है।' सब शिष्यों पर इस वाक्य का अपूर्व प्रभाव हुआ। महर्षि के मन में स्त्री जाति के प्रति वैसा घृणा का भाव नहीं था, जैसा प्रायः संन्यासी या विरक्त दिखाया करते हैं। जो मनुष्य एक चार वर्ष की बालिका में माता की भावना कर सकता है, वह स्त्री जाति के प्रति कैसी प्रतिष्ठा का भाव रखता होगा और उसका हृदय कितना पवित्र होगा, इसकी कल्पना ही की जा सकती है।

1882 के प्रारम्भ में महर्षि जी को बम्बई आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर जाना था। जब विदा होने का समय आया तो महाराणा सज्जनसिंह ने महर्षि जी से प्रार्थना की कि 'भगवन! उदयपुर में यथासम्भव शीघ्र ही दर्शन दीजिएगा।' महर्षि ने वादा भी कर लिया।

बम्बई का वार्षिकोत्सव बड़ी धूमधाम से हुआ। यहां की दो घटनाएं वर्णन योग्य हैं। प्रथम यह कि यहां महर्षि जी ने थियोसॉफिकल सोसाइटी के आर्यसमाज से पृथक् होने की सूचना दी। दूसरी यह कि बम्बई आर्यसमाज ने अपने पहले से निश्चित किये विस्तृत नियमों को छोड़कर लाहौर आर्यसमाज के स्वीकृत नियमों को स्वीकार कर लिया।

यहां इन्हीं दिनों पादरी यूसुफ ने एक व्याख्यान दिया, जिसमें यह सिद्ध करने का यत्न किया कि ईसाई धर्म ही ईश्वरीय है, शेष सब धर्म अनीश्वरीय हैं। महर्षि जी ने इस व्याख्यान के उत्तर में पादरी को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा। पादरी महाशय शास्त्रार्थ के लिए तैयार न हुए। महर्षि जी ने सार्वजनिक व्याख्यान देकर पादरी महाशय के दावे का भली प्रकार खण्डन कर दिया। बम्बई से चलकर खण्डवा, इन्दौर और रतलाम में प्रचार करते हुए महर्षि दयानन्द 11 अगस्त 1882 को फिर उदयपुर पहुंच गए। ठहरने का प्रबन्ध महाराणा जी की ओर से था। सज्जन-निवास बाग में महर्षि का आसन जमाया गया।

महर्षि दयानन्द प्रायः कहा करते थे कि प्रजा का सुधार राजा के सुधार पर अवलम्बित है। जहां कहीं भी महर्षि को अवसर मिलता, शासकों के सुधार में यत्नवान् रहते थे। उदयपुर में पहुंचकर आपने महाराणा के जीवन में परिवर्तन लाने का उद्योग किया। महर्षि को राजपूतों पर बड़ा विश्वास था और उनमें से भी प्रताप के वंशजों पर तो विशेष आशा थी। थोड़े ही समय में आपने महाराणा सज्जनसिंह के जीवन में आश्चर्यजनक परिवर्तन पैदा कर दिया। आजकल के भारतीय रईसों में जितने दोष होते हैं, महाराणा में महर्षि

जी के आने से पूर्व वे सभी थे। विलासिता, शराब, वेश्यागमन आदि कुवृत्तियों और मूर्ति-पूजा, बलिदान आदि के भ्रमात्मक विश्वासों ने महाराणा को घेरा हुआ था। महर्षि जी के उपदेश से बहुत शीघ्र ही सुधार होने लगा। महाराणा ने हर रोज महर्षि जी से पढ़ना प्रारम्भ किया। उन्हें संस्कृत का कुछ अभ्यास पहले से था। शास्त्रों के पढ़ने में उन्हें कोई विशेष दिक्कत न हुई। महर्षि जी ने उन्हें विशेष आग्रह से मनुस्मृति का राजप्रकरण पढ़ाया। वहां राजा के धर्मों का अनुशीलन करके महाराणा की आंखें खुल गईं। उन्होंने जीवन का सुधार आरम्भ कर दिया। महाराणा ने अपना समय-विभाग निश्चित कर दिया। प्रातः काल उठने लगे, संध्योपासन नियमपूर्वक होने लगा। शराब और वेश्यागमन का त्याग कर दिया। राज्य कार्य से शेष समय में महाराणा सत्संग और महर्षि से शास्त्रों का अध्ययन करते। धीरे-धीरे महाराणा ने वैशेषिक, पातञ्जल और योगदर्शन पढ़ लिये और प्राणायाम की विधि भी महर्षि से सीख ली।

यहां उन दिनों पण्डित विष्णुलाल मोहनलाल जी पण्ड्या राज्य के कार्यकर्ताओं में थे। पण्डित जी भी महर्षि के भक्त थे। वह प्रायः महर्षि जी से ज्ञान चर्चा किया करते थे। एक दिन निम्नलिखित आशय की बातचीत हुई-

पण्ड्या जी ने पूछा- 'भगवन! भारत का पूर्ण हित कब होगा? यहां जातीय उन्नति कब होगी?'

महर्षि जी ने उत्तर दिया- 'एक धर्म, एक भाषा और एक लक्ष्य बनाए बिना भारत का पूर्ण हित और जातीय उन्नति का होना दुष्कर कार्य है। सब उन्नतियों का केन्द्र स्थान ऐक्य है। जहां भाषा, भाव और भावना में एकता आ जाय, वहां सागर में नदियों की भांति सारे सुख एक-एक करके प्रवेश करने लग जाते हैं। मैं चाहता हूं कि देश के राजे-महाराजे अपने शासन में सुधार और संशोधन करें। अपने राज्य में धर्म, भाषा और भावों में एकता उत्पन्न कर दें, फिर भारत-भर में आप ही आप सुधार हो जाएगा।' (श्रीमद्दयानन्दप्रकाश)

महर्षि ने एक दिन कविराज श्यामलदास जी से कहा कि 'मेरे मरने के पश्चात् मेरी अस्थियों को खेत में डाल देना, कोई समाधि या कोई चिह्न कभी न बनाना!'

कविराज ने कहा- 'महाराज! मैंने सोच रखा था कि अपनी एक पत्थर की मूर्ति बनवाऊं और उसे किसी जगह रख दूं ताकि मेरे बाद वह मेरा स्मारक समझा जावे।'

महर्षि जी ने तुरन्त कहा- 'देखो कविराज जी ऐसा भूलकर भी मत करना! बस, यही तो मूर्ति पूजा की जड़ हुआ करती है।'

महर्षि के ये वाक्य स्मरणीय हैं। महर्षि मूर्ति-पूजा को हानिकारक समझते थे। वह जानते थे कि लोग असली आशय को भुलाकर स्थूल रूप में उलझ जाते हैं। महर्षि जीवित जागृत स्मारकों को मानते थे, जड़ या मुर्दा स्मारकों को नहीं। महर्षि अपना स्मारक आर्यसमाज को, वेदभाष्य को और परोपकारिणी सभा को मानते थे, किसी शिला या मकान को नहीं। जड़ स्मारक महर्षि जी के आशय के प्रतिकूल था।

एक दिन महाराणा सज्जनसिंह अकेले में महर्षि दयानन्द से बोले कि 'महाराज! यदि आप देश-कालोचित समझकर मूर्तिपूजा का खण्डन करना छोड़ दें तो अति उत्तम हो, क्योंकि आप जानते हैं कि यह रियासत एकलिंगेश्वर महोदय के अधीन चली आती है। यदि आप स्वीकार करें तो इस मन्दिर के महन्त बन सकते हैं। वैसे तो यह राजा भी उसी मन्दिर के समर्पित है, परन्तु मन्दिर के नाम जो राज्य का भाग लगा हुआ है, उसकी भी लाखों की आय है उस पर आपका अधिकार हो जाएगा।'

महर्षि को क्रोध नहीं आता था, परन्तु अपने शिष्य की इस बात से वह झुंझला उठे। महर्षि ने उत्तर दिया- 'महाराणा जी आप मुझे लालच देकर उस सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर की अवज्ञा करने पर उद्यत करना चाहते हैं ये आपके मन्दिर और यह आपकी छोटी-सी रियासत (जिससे मैं एक दौड़ में बाहर जा सकता हूं) मुझे किसी दशा में उस परमेश्वर की आज्ञा के विरुद्ध नहीं कर सकते, जिसके राज्य से कोई कभी किसी प्रकार भी नहीं जा सकता। आप निश्चय रखें कि मैं परमात्मा और वेदों की आज्ञा के विरुद्ध कोई काम नहीं कर सकता।'

यह उत्तर सुनकर महाराणा लज्जित हुए और क्षमा मांगने लगे।

परोपकारिणी सभा का निर्माण

महर्षि दयानन्द की दूरदर्शिनी दृष्टि अब समीप आते हुए अन्त को देख रही थी। मेरठ से चलते हुए महर्षि ने आर्य पुरुषों को जो आदेश दिया था, उसके वाक्य बतलाते हैं कि महर्षि भविष्य को देख रहे थे। आपने व्याख्यान में कहा था कि 'महाशयो! मैं कोई सदा बना नहीं रहूंगा। विधाता के न्याय-नियम में मेरा शरीर क्षणभंगुर है। काल अपने कराल पेट में सबको चबा डालता है। अन्त में इस देह के कच्चे घड़े को भी उसके हाथों टूटना है। सोचो, यदि अपने पांव खड़ा होना नहीं सीखोगे तो मेरे आंख मीचने के पीछे क्या करोगे? अभी से अपने को सुसज्जित कर लो! स्वावलम्ब के सिद्धान्त का अवलम्बन करो! अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने योग्य बन जाओ! किसी दूसरे के सहारे की आशा छोड़ अपने पर ही निर्भर करो!' महर्षि के हृदय में यह चिन्ता थी कि मेरे मरने के पीछे सभाओं को संभालनेवाला कौन होगा?

संभालने को बहुत-कुछ था। सबसे प्रथम, महर्षि समझते थे कि आर्यसमाजें देश भर में बिखरी हुई हैं। उनका एक केन्द्र-भूत संगठन नहीं है। आपस के लड़ाई-झगड़ों को निबटाने का कोई उपाय नहीं है। दूर-दूर के प्रान्तों में स्थापित हुई समाजें एक-दूसरे से कोई सहायता नहीं ले सकतीं।

दूसरी चिन्ता महर्षि को विदेश-प्रचार की थी। उस समय तक प्रान्तिक प्रतिनिधि सभाएं भी नहीं बनी थीं, सार्वदेशिक सभा का तो अभी विचार ही दूर था। प्रचार का और विशेषतया विदेश-प्रचार का कार्य छोटी सभाओं की शक्ति से बाहर था। ऋषि के चित्त में यह विचार घर किये हुए था कि यदि वैदिक धर्म के योग्य प्रचारक भारत से बाहर भेजे जायं, तो उन्हें अवश्य सफलता होगी।

इसके सिवा महर्षि ने वेदभाष्य तथा अपने अन्य ग्रन्थ छपवाने के लिए 1880 में बनारस में वैदिक प्रेस की स्थापना की थी। वह प्रेस अभी तक निराधार था। महर्षि को निरन्तर भ्रमण करना पड़ता था, इस कारण हिसाब में सदा गड़बड़ रहती थी। जब सामने ही यह हाल था तो पीछे के लिए क्या भरोसा हो सकता था? महर्षि के ग्रन्थ जहां-तहां छपे पड़े थे। उनका एक स्थान में संग्रह और संभालने का यत्न भी आवश्यक था।

इन सब बातों पर विचार करके महर्षि ने एक ऐसी सभा का बनाना

निश्चित किया जो इन त्रुटियों को पूरा कर सके। उदयपुर में 'परोपकारिणी सभा' का विचार उत्पन्न हुआ और पकाया गया। वहीं वह कार्य में परिणत हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि महाराणा सज्जनसिंह के सुधार ने महर्षि के हृदय को बड़ा सन्तोष दिया। हिन्दूपति के वैदिक धर्मी बन जाने पर महर्षि को यह भान होने लगा कि अब आर्यसमाज निराधार नहीं है। महाराणा की सज्जनता और दृढ़ता को देखकर उनको विश्वास हो गया कि मेरे पीछे आर्यसमाज को लौकिक सहारे की कमी नहीं रहेगी। इसमें सन्देह भी नहीं कि यदि महर्षि के पीछे उनके योग्यतम शिष्य शीघ्र न चल बसते तो परोपकारिणी सभा ऐसी निर्जीव संस्था न हो जाती। परोपकारिणी सभा का निर्माण एक वसीयतनामे के रूप में हुआ। वसीयतनामे का प्रारम्भ इस प्रकार था–

'मैं स्वामी दयानन्द सरस्वती निम्नलिखित नियमों के अनुसार तेईस (23) सज्जन आर्यपुरुषों की सभा को वस्त्र, पुस्तक, धन और यन्त्रालय आदि अपने सर्वस्व का अधिकार देता हूं और उसको परोपकार सुकार्य में लगाने के लिए अध्यक्ष बनाकर यह स्वीकारपत्र लिखे देता हूं कि समय पर काम आवे।'

इस प्रकार परोपकारिणी सभा महर्षि की उत्तराधिकारिणी बनाई गई थी। 23 सभासदों में से सभापति का स्थान मेवाड़पति महाराणा सज्जनसिंह को प्रदान किया गया था। सभासदों में कई राजपूत नरेश और रईस थे। उनके अतिरिक्त देशभर के प्रसिद्ध आर्यपुरुष और महर्षि के शिष्यों के नाम सभासदों की सूची में प्राप्त होते हैं। रायबहादुर रानडे, रायबहादुर पं० सुन्दरलाल, राजा जयकृष्णदास, लाला साईंदास, पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा आदि महानुभावों को सभा के सभासद् बनाया गया था। परोपकारिणी सभा के सभ्यों की सूची का ध्यानपूर्वक आलोचन हमें बतला सकता है कि जीवन काल में ही महर्षि का प्रभाव कितना विस्तृत हो चुका था।

सभा के अन्य उद्देश्यों पर ध्यान देने से महर्षि के महान् उद्देश्य का परिचय मिलता है। पहला उद्देश्य है– महर्षि जी की सम्पत्ति को वेद और वेदांग आदि के पढ़ने-पढ़ाने में और वैदिक ग्रन्थों के छपवाने में व्यय करना। शिक्षा का प्रबन्ध और पुस्तक प्रकाशन, ये दो ही विभाग इतने हैं कि एक सभा के लिए पर्याप्त हैं। दूसरा उद्देश्य रखा गया– देश और देशान्तर में भेजने के लिए उपदेशक-मण्डलियों के प्रबन्ध में सम्पत्ति का व्यय करना। तीसरा उद्देश्य है– भारत के दीन और अनाथ-जनों को सहायता देना। कितने विस्तृत उद्देश्य हैं! लेख और वाणी द्वारा देश और विदेश में प्रचार परोपकारिणी सभा का पहला कर्तव्य है। दूसरा कर्तव्य है 'वैदिक शिक्षा का प्रबन्ध'। उसका

अन्तिम कर्त्तव्य दोनों और अनाथों को उठाना और उनकी सहायता करना है। महर्षि ने परोपकारिणी सभा का बड़ा भारी प्रोग्राम था। वह परोपकारिणी सभा को अपना उत्तराधिकारी और आर्यसमाज का रक्षक बनाना चाहते थे।

वसीयतनामे के अन्तिम भाग में सभा के साधारण नियम हैं। सभा में वही रह सकेगा, जो सदाचारपूर्वक जीवन बिताए। दुराचारी को निकाल दिया जायगा। अधिक समय तक कोई स्थान रिक्त नहीं रह सकेगा। यदि सभा में कोई झगड़ा उठे तो सभा में फैसला होने की अन्य कोई भी सूरत होने तक उसे कचहरी में नहीं ले- जाना चाहिए। यदि कोई सूरत बाकी न रहे, तो न्यायालय से निर्णय होना चाहिए। ये नियम दिखलाते हैं कि सार्वजनिक संगठनों के निर्माण में महर्षि दयानन्द सिद्धहस्त थे और सभ्यों की शक्ति को परिमित करने के लाभों को खूब समझते थे।

इन उद्देश्यों से और इन नियमों से महर्षि ने परोपकारिणी सभा का निर्माण किया, और अपनी सार्वजनिक सम्पत्ति सभा को सौंप दी। अपने जीवन-काल में ही प्रेस, पुस्तक आदि सभा को दे दिये। महर्षि को सभा से बड़ी आशाएं थीं। वह सभा द्वारा केवल अपनी सार्वजनिक सम्पत्ति को ही सुरक्षित नहीं करना चाहते थे, वह राजाओं और अन्य शिक्षित महानुभावों को इकट्ठे बिठाकर एक-दूसरे के समीप लाना चाहते थे। वह राजपूताना के अशिक्षित नरेशों को भारतहित के सार्वजनिक कार्यों में लगाना चाहते थे। परोपकारिणी का निर्माण उस सपने का फल था जो चित्तौड़ की चोटियों पर खड़े होकर महर्षि ने देखा था। महर्षि इस सभा द्वारा सोए हुए राजपूताना शेर को जगाना चाहते थे। वह आर्य जाति द्वारा मनुष्यजाति के धार्मिक और सामाजिक उद्धार का नेतृत्व आर्य नरेशों के हाथ में देना चाहते थे। यह दूसरा प्रश्न है कि परोपकारिणी सभा को कहां तक सफलता हुई। पूरी सफलता न होने के कई कारण हुए। पहला कारण तो महर्षि का शीघ्र ही स्वर्गवास था। दूसरा कारण महर्षि के थोड़े ही समय पीछे उदयपुर नरेश का देहान्त था। तीसरा कारण यह था कि आर्यसमाज का प्रतिनिधियों द्वारा संगठन बहुत शीघ्र ही बन गया, और आर्य-प्रथा की सम्पूर्ण शक्तियां उधर ही लग गई। अनेक प्रान्तों में, सैकड़ों मीलों की दूरी पर बैठे हुए रईस और समृद्ध महानुभावों के कार्य पर कड़ा निरीक्षण करने की जितनी आवश्यकता थी, आर्य-पुरुष उसे पूरा न कर सके। ये अपनी प्रतिनिधि सभाओं और धीरे-धीरे सार्वदेशिक सभा में इतने लीन हो गए कि परोपकारिणी की सुध न ली। परोपकारिणी भी अनुकूल अवसर जानकर स्वप्नावस्था में पड़ी पड़ी जीवन के दिन काटने लगी।

जीवन का अन्तिम दृश्य

उदयपुर में महर्षि जी 1883 ईसवी के फरवरी मास के अन्त तक रहे। मार्च के प्रारम्भ में आप शाहपुरा रियासत की राजधानी में पहुंच गए। शाहपुराधीश राजा नाहरसिंह जी महर्षि जी के भक्तों में से थे। उन्होंने बड़े भक्ति भाव से स्वागत किया। अपने विशेष बाग नाहर निवास में महर्षि जी का आसन जमाया। प्रतिदिन वैदिक धर्म का प्रचार होने लगा। महाराज स्वयं प्रतिदिन सायंकाल 3 घण्टे के लिए शिष्य-भाव से आते थे, और अध्ययन करते थे। मनुस्मृति, योग- दर्शन, वैशेषिक दर्शन आदि के आवश्यक भागों का महाराज ने पाठ समाप्त कर लिया।

महर्षि जी के उपदेशों से प्रेरित होकर महाराज ने महलों में एक यज्ञशाला बनवाई, जिसमें प्रतिदिन हवन कराने का संकल्प किया। मई मास के मध्य तक शाहपुरा में धर्मवृष्टि करके महर्षि 17 मई 1883 को जोधपुर की ओर रवाना हुए। शाहपुरा से जोधपुर की ओर रवाना होने के समय महाराज नाहरसिंह ने महर्षि जी से कहा कि 'महाराज! आप जोधपुर तो जाते हैं, परन्तु वहां वेश्या आदि का खण्डन न करना।' महर्षि ने उत्तर दिया कि 'राजन! मैं बड़े वृक्ष को नहेरने से नहीं काटता, उसके लिए बड़े शस्त्र की आवश्यकता होगी।'

जोधपुर में कर्नल सर प्रतापसिंह और रा० रा० तेजसिंह आदि रईस महर्षि के शिष्य हो चुके थे। वे लोग देर से निमन्त्रण भेज रहे थे। अब समय पाकर महर्षि ने जोधपुर राज्य में भी सुधार का बीड़ा उठाने का संकल्प किया। शाहपुरा से आप अजमेर आए और वहां से जोधपुर के लिए रवाना हुए। अजमेर के आर्य-पुरुषों ने महर्षि की सेवा में उपस्थित होकर फिर निवेदन किया कि 'अब आप मारवाड़ प्रान्त में पधारते हैं। वहां के मनुष्य प्रायः गंवार और उजड्ड हैं, और उनका स्वभाव और बर्ताव भी अच्छा नहीं। इसलिए अभी आप वहां न जाइए।' महर्षि ने उत्तर दिया कि 'यदि लोग मेरी अंगुलियों की बत्तियां बनाकर जलावें, तब भी मुझे कुछ शंका नहीं हो सकती। मैं वहां जाऊंगा और अवश्य वैदिक धर्म का प्रचार करूंगा।'

इस उत्तर को सुनकर सब चुप हो गए, परन्तु एक सज्जन ने निवेदन किया कि 'तथापि आप वहां सोच-समझकर और मधुरता से काम लेना, कारण यह है कि वहां के रहने वाले कठोर हृदय और कपटी होते हैं।' इसका उत्तर महर्षि ने दिया कि 'मैं पाप के बड़े-बड़े वृक्षों की जड़ काटने

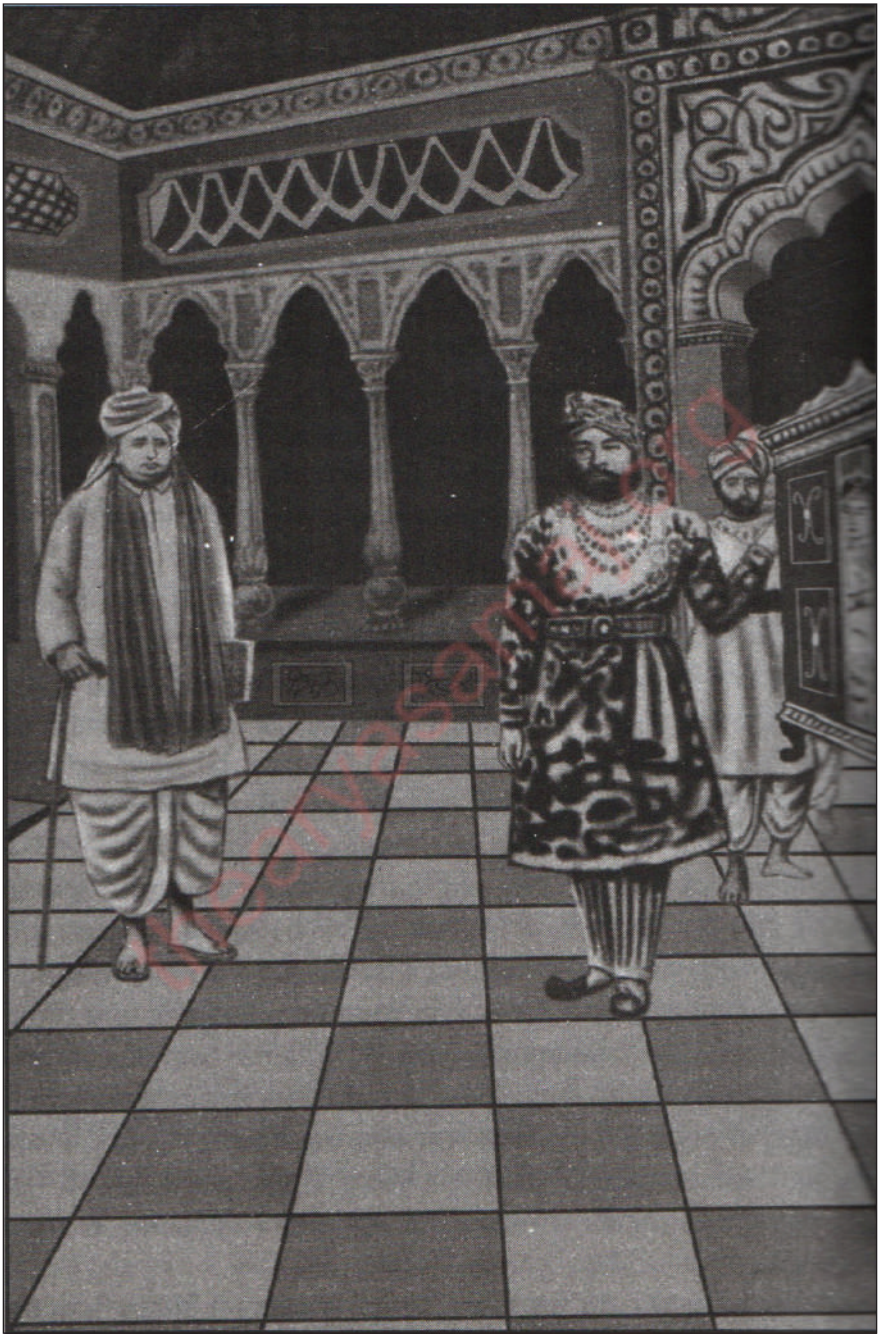

वेश्यागामी नरेश को फटकार

के लिए तीक्ष्ण कुठारों से काम लूंगा, न कि उन्हें बढ़ाने के लिए कैंचियों से उनकी कलम करूंगा।'

जोधपुर में महर्षि जी का भली प्रकार स्वागत हुआ। राजा जवानसिंह जी ने आवभगत की। बाद में महाराजा प्रतापसिंह और रा० रा० तेजसिंह आदि रईसों ने दर्शन किये और आतिथ्य का उचित प्रबन्ध किया। कुछ दिनों पीछे स्वयं जोधपुराधीश महाराज यशवन्तसिंह भी दर्शनों को आए। महर्षि ने उन्हें बहुत उपदेश दिया। प्रतिदिन सायंकाल को महर्षि जी सर्वसाधारण को धर्मोपदेश करते और फिर दो घण्टे तक राजभवन में जाकर महाराज तथा उनके अन्य समीपवर्तियों की शंकाओं का निवारण करते। महाराज प्रतिदिन महर्षि से कुछ-न-कुछ सीखते थे। महर्षि ने अपने व्याख्यानों में मूर्तिपूजा, वेश्यागमन, चक्रांकित सम्प्रदाय और इस्लाम का बड़े जोर से खण्डन किया। जोधपुर में यही शक्तियां थीं। जोधपुर के पुजारी बड़े प्रचण्ड थे। महाराज और रईसों पर वेश्याओं का पूरा अधिकार था। रियासत में चक्रांकितों का बड़ा जोर था और राज्य के मुसाहिब आला भय्या फैजुल्ला खां इस्लाम के खण्डन से बहुत क्षुब्ध हो गए थे। एक रोज उन्होंने महर्षि जी को यहां तक कह दिया कि यदि इस समय मुसलमानों का राज्य होता तो आप ऐसे व्याख्यान न दे सकते, और देते तो जीवित नहीं रह सकते थे। महर्षि जी ने उसका उत्तर दिया- अस्तु, कोई बात नहीं है। मैं भी उस समय दो क्षत्रिय राजपूतों की पीठ ठोंक देता तो वे उन लोगों को अच्छी तरह समझ लेते।

इस प्रकार जोधपुर में महर्षि जी के शत्रुओं की संख्या बढ़ रही थी। इसी प्रकार एक और घटना हो गई, जिसने विरोधियों के बल को बहुत बढ़ा दिया। महाराज यशवन्तसिंह का नन्हीजान नाम की एक वेश्या से गहरा सम्बन्ध था। एक रोज अपने निश्चित नियम के अनुसार महर्षि जी दरबार में पहुंचे। उस समय महाराजा के पास नन्हीजान आई हुई थी। महर्षि जी के आने का समय जानकर महाराजा उसे डोली में रवाना कर रहे थे। डोली उठने से पूर्व ही महर्षि जी को समीप आता देखकर महाराजा घबरा गए और डोली को स्वयं कन्धा लगाकर उठवा दिया। महर्षि ने यह देख लिया। इससे उनका चित्त बहुत ही अधिक क्षुब्ध हुआ। उस दिन अपने उपदेश में महर्षि ने राजधर्म का वर्णन करते हुए बताया कि राजा सिंह के समान हैं और वेश्याएं कुतियों के समान राजाओं का सम्बन्ध सिंहनियों से ही उचित है, कुतियों से नहीं। महाराज का सिर लज्जा से झुक गया और उन्होंने अपने सुधार का निश्चय किया। नन्हीजान को जब यह समाचार मिला तो वह जल उठी। उसका क्रोध सीमा को पार कर गया।

29 सितम्बर को रात के समय सोने से पूर्व महर्षि जी ने रोज के नियम

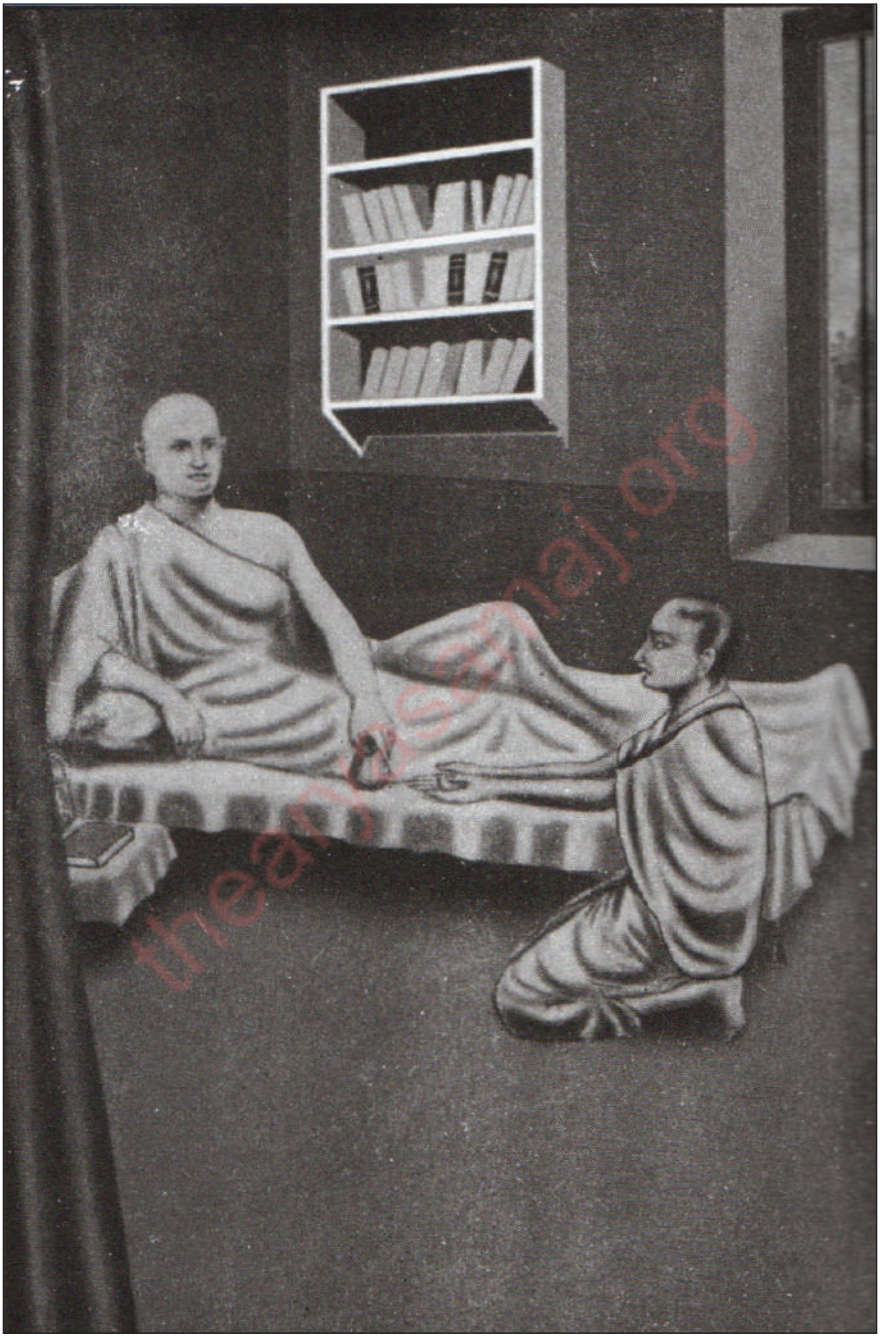

विष देने वाले जगन्नाथ पाचक को प्राण रक्षार्थ रुपये दे विदा करना

से गर्म दूध मंगवाकर पिया। स्वामी जी का रसोइया जगन्नाथ नाम को एक ब्राह्मण था। दूध पीकर महर्षि जी सो गए। थोड़ी देर पीछे पेट में दर्द उठा और जी मतलाने लगा। रात को कई बार वमन हुआ। महर्षि जी ने किसी को सूचना न दी, परन्तु निर्बलता के कारण प्रातः काल देर में उठे और घूमने न जा सके। घर की शुद्धि के लिए आपने हवन की आज्ञा दी। हवन किया गया। महर्षि जी की दशा और अधिक खराब होने लगी उदर शूल, पेचिश और वमन का जोर बढ़ने लगा। डॉक्टर सूर्यमल जी महर्षि जी के भक्त थे। पहले उनका इलाज प्रारम्भ हुआ; परन्तु शीघ्र ही दरबार की ओर से डॉ० अलीमर्दान खां को भेजा गया। इलाज बहुत हुआ, परन्तु दशा सुधरने की जगह बिगड़ती ही गई। प्रतिदिन दस्तों की संख्या बढ़ने लगी। मुंह, सिर और माथा छालों से भर गए, हिचकी बंध गई और शरीर बहुत ही कृश होने लगा। डॉ० अलीमर्दान खां का इलाज उल्टा पड़ रहा था। इस घातक परिवर्तन की तह में डॉक्टर की मूर्खता थी या कोई और गहरा भाव था यह निश्चयपूर्वक कहने का इतिहास-लेखक को तब तक कोई अधिकार नहीं, जब तक कि किसी एक कल्पना की पुष्टि में कोई पुष्ट युक्ति न दी जा सके। हां, यह बात अवश्य सन्देहजनक है कि दशा तो बिगड़ रही थी और डॉक्टर साहब यही बताते थे कि दशा अच्छी हो रही है। महर्षि के शरीर में जहर घर कर गया था। डॉक्टरों ने यही सम्मति दी थी कि रोगी को विष दिया गया है। प्रतीत होता है कि कपटियों की प्रेरणा से जगन्नाथ ब्राह्मण ने रात को सोते समय दूध में जहर मिलाकर पिला दिया। कहा जाता है कि पता लगने पर इस आशंका से कि मेरे भक्त उस रसोइये को सताएं नहीं, दयालु महर्षि ने किराया देकर उसे नेपाल की ओर भाग जाने को कहा था।

इतने कष्ट में भी महर्षि का धैर्य आश्चर्यजनक था। उसे देखकर मित्र और शत्रु दांतों तले उंगली दबाते थे। इतना कष्ट और 'आह' तक नहीं! धैर्य से रोग को सह रहे थे और पूछने पर केवल यथार्थ दशा बतला देते थे। शरीर छालों से भरा हुआ था, बोलने में असह्य कष्ट होता था, हिलना-डुलना भी कठिन हो रहा था। ऐसी दशा में भी महर्षि के मुंह पर न घबराहट थी और न खिजलाहट। वही गम्भीर चेहरा था और वही शान्त मुद्रा थी। जिन लोगों ने उस दशा में महर्षि दयानन्द को देखा, उन्होंने अनुभव किया कि इस मनुष्य में अवश्य ही कोई दिव्य शक्ति काम कर रही है। उनके हृदयों में यह बात अंकित हो गई कि इस महापुरुष के हृदय में निश्चय से परमात्मा की शक्ति काम कर रही है।

महर्षि जी की बीमारी का वृत्तान्त बहुत दिनों तक छिपा न रहा। अजमेर में समाचार पहुंचते ही आर्य-पुरुष जोधपुर के लिए रवाना हुए और महर्षि जी की दशा देखकर आश्चर्यित हो गए। रोग की दशा, इलाज की शिथिलता

और सेवा की असुविधा देखकर आर्य पुरुषों ने महर्षि से आग्रह किया कि आप आबू पहाड़ पर चलें। महर्षि ने स्वीकार कर लिया। महाराजा को सूचना मिलने पर पहले तो दु:खित हुए, परन्तु फिर महर्षि जी का आग्रह देखकर खिन्न मन से आदरपूर्वक विदाई का प्रबन्ध कर दिया। विदाई के समय स्वयं उपस्थित होकर रास्ते के आराम की भली प्रकार व्यवस्था कर दी। जोधपुर से डोली में महर्षि जी आबू पर्वत पर गए, परन्तु वहां भी कोई विशेष आराम दिखाई न दिया। तब महर्षि जी के शिष्य उन्हें अजमेर वापस ले गए। इस यात्रा में उन्हें बहुत शारीरिक कष्ट हुआ, परन्तु अच्छा इलाज करने और स्वयं सेवा करने की शिष्यों की प्रबल इच्छा में बाधा डालना उन्होंने उचित न समझा। अजमेर में महर्षि जी को एक कोठी में ठहराया गया, और डॉ० लक्ष्मणदास जी का इलाज प्रारम्भ हुआ।

महर्षि का मृत्यु-समय निकट आ रहा था। इलाज और सेवा कुछ परिवर्तन पैदा न कर सके। अन्तिम समय का दृश्य एक दर्शक की लेखनी द्वारा जिन सरल शब्दों में चित्रित किया गया है, हम उससे उत्तम वर्णन नहीं कर सकते, इस कारण उसी को उद्धृत करते हैं-

रेल से उतारकर महर्षि जी को पालकी में लिटा लिया गया और सावधानी से उन्हें एक कोठी में ले आए, जो पहले से इस काम के लिए नियत कर रखी थी। उस सयम रात के तीन बजे थे। अक्टूबर का अन्त था। लोगों को सर्दी मालूम देती थी, परन्तु महर्षि जी के मुंह से केवल 'गर्मी-गर्मी' का शब्द निकलता था। कोठी के सब दरवाजे खुलवा दिये गए, तब भी महर्षि जी को शान्ति न हुई। दूसरे दिन डॉ० लक्ष्मणदास जी का इलाज शुरू हुआ, पर रोगी की दशा में कुछ अन्तर न हुआ। एक बार महर्षि जी ने अपने प्रेमीजनों से कहा, 'हमको मसूदा ले चलो!' इस पर सबने कहा कि आराम होने पर हम आपको वहां पहुंचा देंगे, इस दशा में बार-बार यात्रा करना ठीक नहीं है। इस पर महर्षि जी ने कहा कि 'दो दिन में हमको पूरा आराम पड़ जायगा।' यह उत्तर स्मरण रखने योग्य है। अब महर्षि जी के सारे शरीर में छाले ही छाले दीखने लगे। 29 अक्टूबर को महर्षि जी का शरीर अत्यन्त ही निर्बल हो गया। आपने सेवकों से कहा कि हमें बिठा दो। जब उन्हें बिठाया गया तो कहा कि 'छोड़ दो, हमें सहारे की आवश्यकता नहीं है।' तब वह कितनी देर तक बिना सहारे बैठे रहे। उस समय सांस जल्दी-जल्दी चल रही थी, पर महर्षि जी उसे रोककर बल से फेंक देते थे, और ईश्वर के ध्यान में मग्न हो रहे थे। रात कष्ट अधिक रहा। दूसरे दिन 30 अक्टूबर को डॉक्टर न्यूमन साहब बुलाए गए। जिस समय उक्त डॉक्टर साहब ने महर्षि जी को देखा तो बड़े आश्चर्य से कहने लगे कि 'धन्य है इस सत्पुरुष को हमने आज तक ऐसा

दिल का मजबूत कोई दूसरा मनुष्य नहीं देखा कि जिसको इस प्रकार नख से शिख तक अपार पीड़ा हो और वह तनिक भी आह या ऊह न करे।' उस समय महर्षि जी के कण्ठ में कफ की बड़ी प्रबलता थी, जिसकी निवृत्ति के लिए डॉक्टर न्यूमन ने कई उपाय किये, परन्तु उससे कुछ लाभ न हुआ। 11 बजे दिन के महर्षि जी का श्वास विशेष बढ़ने लगा। उन्होंने कहा कि हम शौच जाएंगे। उस समय महर्षि जी को चार आदमियों ने उठाया, और शौच करने की चौकी पर बिठा दिया। शौच गए और पानी लिया। आज्ञानुसार पलंग पर बिठाया गया। कुछ देर बैठकर फिर लेट गए। श्वास बड़े वेग से चलता था, और ऐसा प्रतीत होता था कि महर्षि जी श्वास को रोककर ईश्वर का ध्यान करते हैं। उस समय महर्षि जी से पूछा गया कि 'महाराज ! कहिये, अब आपकी तबीयत कैसी है?' कहने लगे कि 'अच्छी है, एक मास के पीछे आज का दिन आराम का है।' इस समय लाला जीवनदास जी ने, जो लाहौर से महर्षि जी को देखने अजमेर गए थे, स्वामी जी के अभिमुख होकर पूछा कि 'महाराज! इस समय कहां है? स्वामी जी ने उत्तर दिया कि ईश्वरेच्छा में।'

उस समय श्रीयुत के मुख पर किसी प्रकार का शोक या घबराहट प्रतीत नहीं होती थी। ऐसी वीरता के साथ दु:ख को सहन करते थे कि मुंह से कभी हाय या शोक नहीं निकला। इसी प्रकार महर्षि जी को बातचीत करते-करते पांच बज गए, और बड़ी सावधानता से रहे। इस समय हम लोगों ने श्रीयुत से पूछा कि 'कहिये, अब आपकी तबीयत का क्या हाल है?' तो कहने लगे कि 'अच्छा है, तेज और अन्धकार का भाव है।' इस बात को हम कुछ न समझ सके, क्योंकि महर्षि जी इस समय सरल बातचीत कर रहे थे। साढ़े पांच बजे का समय आया तो हम लोगों से महर्षि जी ने कहा, 'अब सब आर्यजनों को जो हमारे साथ और दूर-दूर देशों से आए हैं, बुला लो और हमारे पीछे खड़ा कर दो। कोई सन्मुख खड़ा न हो।'

बस, आज्ञा पानी थी, वही किया गया।

जब सब लोग महर्षि जी के पास आ गए तब उन्होंने कहा कि चारों ओर के द्वार खोल दो और ऊपर की छत के दो छोटे द्वार भी खुलवा दिये। इस समय पण्ड्या विष्णुलाल मोहनलाल भी श्रीमान उदयपुराधीश की आज्ञानुसार आ गए। फिर महर्षि जी ने पूछा- कौन-सा पक्ष, क्या तिथि और क्या वार है? किसी ने उत्तर दिया कि कृष्ण पक्ष और शुक्ल पक्ष की सन्धि अमावस मंगलवार है। यह सुनकर महर्षि जी ने कोठी की छत और दीवारों की ओर दृष्टि की, फिर पहले वेद-मन्त्र पढ़े, तत्पश्चात् संस्कृत में ईश्वर की कुछ उपासना की, फिर भाषा में ईश्वर के गुणों का थोड़ा-सा कथन कर बड़ी प्रसन्नता और हर्ष सहित गायत्री मन्त्र का पाठ करने लगे। तत्पश्चात् हर्ष और

प्रफुल्लित चित्त-सहित कुछ देर तक समाधियुक्त नयन खोल कहने लगे कि 'हे दयामय! हे सर्वशक्तिमान् ईश्वर! तेरी यही इच्छा है। तेरी यही इच्छा है। तेरी इच्छा पूर्ण हो! अहा! तूने अच्छी लीला की!' बस, इतना कह महर्षि जी महाराज ने, जो सीधे लेट रहे थे, स्वयं करवट ली और एक प्रकार से श्वास को रोककर एक बार ही निकाल दिया।

(आर्यधर्मेन्द्र जीवन)

लेखक के शब्द सरल और अकृत्रिम हैं। ये शब्द बताते हैं कि दर्शकों के हृदयों पर उस तपस्वी की मृत्यु का गहरा असर हुआ था। कहते हैं कि लाहौर से पं० गुरुदत्त विद्यार्थी भी लाला जीवनदास जी के साथ महर्षि के दर्शनों को गए हुए थे। पण्डित गुरुदत्त जी इससे पूर्व अर्ध-नास्तिक थे। विज्ञान के धक्के ने हृदय के ईश्वर - विश्वास को हिला दिया था। महर्षि की मृत्यु के दिव्य दृश्य को देखकर पण्डित जी के कोमल हृदय पर आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ा। एक आस्तिक किस शान्ति से मर सकता है यह देखकर गुरुदत्त का हृदय पिघल गया और जहां नास्तिकता के कारण शून्य हो रहा था वहां विश्वास और श्रद्धा का सुगन्धित पवन बहने लगा। जो अविश्वासी हृदय के साथ मरता है, उसे भविष्य में निराशा दिखाई देती है। जिसे ईश्वर पर भरोसा नहीं, उसके लिए मौत एक अथाह अंधेरी खाई है। जिसने जीवन में केवल आस्तिकता का दम्भ भरा हो, मृत्यु के समय उसके मुंह पर से पर्दा उठ जाता है और जो प्रत्यक्ष में सन्तुष्ट दिखाई देता था, वह वस्तुतः अशान्तमय दिखाई देता है। मृत्युकाल सब पर्दों को उघाड़ देता है। उस समय कोई भाव छिपा नहीं रहता। महर्षि की मृत्यु बताती है कि उनका हृदय ईश्वर-विश्वास और धार्मिक श्रद्धा से परिपूर्ण था। उनका जीवन उज्ज्वल था, परन्तु मृत्यु उससे भी बढ़कर थी वह दिव्य थी। इस भू-लोक पर ऐसे दृश्य कम दिखाई देते हैं। वह मृत्यु थी, जो नास्तिक हृदय के मरुस्थल में से भी आस्तिकता की सरस्वती वहा सकती थी।

जीवन के समय महर्षि के मित्र भी थे और शत्रु भी थे; परन्तु मृत्यु ने उन सब भेदों को दूर कर दिया। देश में मृत्यु का समाचार फैलते ही सार्वजनिक सहानुभूति का एक ऐसा शब्द उठा कि छोटे-छोटे विक्षोभ स्वतः दूर हो गए। ईसाई, मुसलमान, ब्राह्मो, थियोसॉफी-सभी ने एकस्वर से आर्यजाति के नेता की मृत्यु पर दुःख प्रकाशित किया। जीते-जी जो मुंह संकोचवश मौन रहते थे, वे खुल उठे और भारत के नेताओं और समाचारपत्रों ने दयानन्द की अकाल मृत्यु को देश के दुर्भाग्य का चिह्न समझा। सभी प्रकार के भारत-हितैषी सज्जनों ने महर्षि की मृत्यु पर शोक प्रकट किया। आर्यसमाज को कितना कष्ट हुआ

होगा, इसकी तो कल्पना ही की जा सकती है। आर्यसमाज का सर्वस्व लुट गया। उसका मूलाधार नष्ट हो गया। समाजें अनाथ हो गई। उस समय समाजों की जो अनाथ दशा थी, उसकी कल्पना इस समय करना कठिन है। अब तो आर्य प्रतिनिधि सभाएं हैं, दर्जनों विद्वान् हैं, पुराने पुराने विश्वासपात्र नेता हैं और एक के खाली स्थान पर बैठनेवाला दूसरा महानुभाव विद्यमान है। उस समय आर्यसमाज और आर्यसमाजियों को एक महर्षि दयानन्द का भरोसा था। कोई झगड़ा हो तो वह निपटाएं, शास्त्रार्थ हो तो वही पहुंचें, उत्सव की शोभा उन्हीं से हो, सारांश यह कि समाज का सर्वस्व केवल वही थे। आर्यसमाज में जो व्यापी मातम की घटा छा गई, वह यथार्थ ही आर्यसमाज के बाहर समझदार हिन्दुओं ने महर्षि जी के वियोग को किस प्रकार अनुभव किया, उसका दिग्दर्शन पण्डित बालकृष्ण भट्ट द्वारा सम्पादित, प्रयाग के 'हिन्दी प्रदीप' के लम्बे लेख की निम्नलिखित पंक्तियों से हो सकता है। महर्षि जी की मृत्यु का समाचार सुनकर प्रदीप ने लिखा था- 'हा! आज भारतोन्नति कमलिनी का सूर्य अस्त हो गया। हा! वेद का खेद मिटाने वाला सद्वैद्य लुप्त हो गया। हा दयानन्द सरस्वती! आर्यों के सरस्वती जहाज की पतवार बिना दूसरे को सौंपे तुम क्यों अन्तर्धान हो गए? हा! सच्ची दया के समुद्र! हा! सच्चे आनन्द के वारिद! अपनी विद्यामयी लहरी और हितोपदेश-रूपी धारा से परितप्त भारतभूमि को आर्द्र कर कहां चले गए? हा! चार दिन के चतुरानन! इस असभ्यता-प्रिय मण्डली में आपने अपनी विलक्षण चतुराई को क्यों इस प्रकार सरल भाव से फैलाया?' इसी प्रकार लम्बा खेदपूर्ण लेख लिखकर भट्ट जी ने यह प्रकाशित कर दिया कि जो जन आर्यसमाज के सभासद् नहीं परन्तु आर्यत्व से प्रेम करते थे, वे दयानन्द को आर्य जाति का नेता समझते थे, संकुचित मत का प्रचारक नहीं।

मुसलमान- दुनिया के विचारों का प्रतिबिम्ब उस समय के भारतीय मुसलमानों के नेता सर सय्यद अहमद खां की राय में दिखाई दे सकता है। लाहौर के 'कोहेनूर' में आपने लिखा था- 'निहायत अफसोस की बात है कि महर्षि दयानन्द साहब ने, जो संस्कृत के बहुत बड़े आलम और वेद के बहुत बड़े मुहक्किक थे, 30वीं अक्टूबर 1883 को 7 बजे शाम के अजमेर में इन्तकाल किया। इलावा इलाम-ओ-फजल के निहायत नेक और दरवेशसिफ्त आदमी थे। इनके मुतअक्कद इनको देवता मानते थे, और बेशक वह इसी लायक ये। वह सिर्फ ज्योतिस्वरूप निरंकार के सिवा दूसरे की पूजा जायज नहीं रखते थे। हमसे और महर्षि दयानन्द मरहूम से बहुत मुलाकात थी, वह हमेशा इनका निहायत अदब करते थे, क्योंकि ऐसे आलिम और उम्दा शख्स थे कि हर एक मजहबवाले को इनका अदब लाजिम था। बहरहाल ऐसे

शख्स थे, जिनका मसल इस वक्त हिन्दुस्तान में नहीं है और हर एक शख्स को उनकी वफात का राम करना लाजिम है, कि ऐसा बेनजीर शख्स इनके दर्मियान से जाता रहा।' इस सम्मति को समझदार मुसलमानों की सम्मति का एक नमूना समझा जा सकता है।

अन्तिम दिनों में महर्षि जी का थियोसॉफिस्टों से बहुत मतभेद हो गया था, परन्तु मृत्यु पर थियोसॉफिकल सोसाइटी के नेताओं ने बड़ी सहृदयता से दु:ख का प्रकाश करते हुए आन्तरिक भक्ति का प्रमाण दिया। महर्षि जी की मृत्यु के समाचार पर थियोसॉफी के मुखपत्र 'थियोसॉफिस्ट' ने हृदय के उद्‌गार निम्नलिखित शब्दों में प्रकट किये थे- 'एक महान् आत्मा भारतवर्ष से चल बसी। पं० दयानन्द सरस्वती जी, जिन्होंने आर्यावर्त में आर्यसमाज की बुनियाद रखी थी और इसके सबसे बड़े रुकन वा मुखिया थे, आज दुनिया से कूच कर गए। वह निडर और सरगर्मी से काम करने वाला रिफॉर्मर, उसकी जबरदस्त आवाज और पुरजोश वक्तृत्वशक्ति से भारत के हजारों आदमी गत कई वर्षों के समय में प्रमाद और आलस्य के गढ़े से निकलकर देश-भक्ति के झण्डे तले आ गए थे, आज भारत को वियोग से दु:खी करके स्वर्ग को चला गया।'

थियोसोफिकल सोसाइटी के संस्थापक कर्नल अल्कॉट ने लिखा था- 'महर्षि जी महाराज नि:सन्देह एक महान् पुरुष और संस्कृत के बड़े विद्वान् थे। उनमें ऊंचे दर्जे की योग्यता, दृढ़ निश्चय और आत्मिक विश्वास का निवास था। वह मनुष्य जाति के मार्गदर्शक थे। वह अत्यन्त सुडौल, दीर्घाकार, अत्यन्त मधुर स्वभाव और हमारे साथ व्यवहार में दयाशील थे। हमारे दिमाग पर उन्होंने बड़ा गहरा असर छोड़ा है।'

ईसाई लोगों से महर्षि जी का बहुत खिंचाव रहता था, क्योंकि ईसाइयत की विजय यात्रा को उत्तरीय भारत में रोकने वाला महर्षि दयानन्द ही था। मृत्यु पर ईसाइयों की ओर से भी हार्दिक दु:ख ही प्रकाशित किया गया। विलायत में समाचार पहुंचा। संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् प्रो० मैक्समूलर ने 'पालमाल गजट' में एक लेख लिखा। उस लेख में प्रोफेसर महोदय ने स्वीकार किया कि महर्षि जी वैदिक साहित्य के बड़े भारी पण्डित थे और प्रसिद्ध सुधारक थे। प्रोफेसर साहब ने लिखा कि जहां कहीं भी शास्त्रार्थ हुआ, महर्षि दयानन्द की विजय हुई। देश के सभी समाचारपत्रों ने महर्षि की मृत्यु को देश का परम दुर्भाग्य बतलाया। इस प्रकार देशभर द्वारा कृतज्ञतापूर्वक स्मरण किए हुए महर्षि दयानन्द ने दीवाली की रात को अभागी भारत-भूमि को छोड़कर परलोक की यात्रा की।

आर्यसमाज का संगठन

इस खण्ड को समाप्त करने से पूर्व आवश्यक प्रतीत होता है कि महर्षि दयानन्द देश को आर्यसमाज के रूप में जो संगठन दे गए थे, उस पर थोड़ा-सा विचार करें। महर्षि दयानन्द अपने पीछे आर्यसमाजों को, अपने ग्रन्थों को, अपने चरित्र को और कई शिष्यों को छोड़ गए थे। इनमें से हरेक उनका स्मारक है। परन्तु जिस स्मारक की स्थिरता सबसे अधिक है, वह आर्यसमाज है। आर्यसमाज महर्षि दयानन्द का स्मारक ही नहीं, वह महर्षि का प्रतिनिधि भी है। ग्रन्थों की, सिद्धान्तों की, संस्थाओं की और वस्तुतः वेदों की रक्षा का बोझ आर्यसमाज पर है। महर्षि दयानन्द ने अपने पीछे अपना प्रतिनिधि आर्यसमाज को बनाया है। इस परिच्छेद में देखना है कि वह प्रतिनिधि बनने के योग्य भी था या नहीं?

आर्यसमाज के संगठन के सम्बन्ध में स्वयं आर्यसमाजियों में मतभेद हैं। अनेक विद्वान् आर्य पुरुषों ने भी वर्तमान संगठन (Constitution) से असन्तोष प्रकट किया है। महर्षि दयानन्द के किसी कार्य से असन्तोष प्रकट करना उचित न समझकर उन महानुभावों ने आर्यसमाज के वर्तमान नियमों तथा उपनियमों के लिए किसी ऐसे सज्जन को दोषी ठहरा दिया है, जिसे वे बुरा समझते थे। यहां तक कि आर्यसमाज के एक इतिहास लेखक ने तो आर्यसमाज के वर्तमान संगठन को ही बहुत-से वर्तमान दुःखों का मूल मान लिया है।

यह मानना पड़ेगा कि आर्यसमाज का वर्तमान संगठन धार्मिक संसार में नया है। इससे पूर्व किसी धार्मिक समाज में प्रजासत्तात्मक शासन प्रणाली का ऐसी पूर्णता से प्रयोग नहीं किया गया। प्रायः सब मत किसी अलौकिक प्रभाव के नीचे रहे हैं। रोम के कैथोलिक ईसाई रोम के पोप को अपने धर्म का गुरु मानते हैं। इस्लाम की नजर पहले खलीफा की ओर लगी रहती थी, अब मक्के की ओर लगी हुई है। बौद्ध भिक्षुकों के चुनाव में किसी प्रजामत का हाथ नहीं है। प्रोटेस्टैण्ट-ईसाई चर्च यद्यपि प्रायः राजकीय शक्ति पर भरोसा रखता है, तो भी यह मानना पड़ेगा कि प्रोटेस्टैण्ट चर्च के मुख्य पुरुषों के चुनाव में आम ईसाइयों का कोई हाथ नहीं होता। धर्म के विषय में लोकमत का प्रतिनिधित्व महर्षि दयानन्द से पूर्व केवल एक जगह स्वीकार किया गया

था। हजरत मुहम्मद की मृत्यु के पीछे जो खलीफा हुए, वे सर्वसाधारण की ओर से चुने गए। परन्तु शीघ्र ही जो तलवार अब तक इस्लाम और अन्य मतों के झगड़े में सत्यासत्य-निर्णय करने का अन्तिम साधन समझी जाती थी, वही इस्लाम की खिलाफत के अधिकारानधिकार के निर्णय के लिए भी अंतिम प्रमाण मान ली गई। हजरत अली और उमय्यद वंश की टक्कर में इस्लाम का प्रजासत्तात्मक रूप कुचल गया।

भारतवर्ष के लिए राजनीति में भी प्रजासत्तात्मकवाद नया था। अभी किसी स्थान पर उसका पूर्णतया प्रयोग नहीं हुआ था। ब्रिटिश सरकार बहुत संभल-संभलकर कहीं-कहीं प्रजामत को थोड़ा-बहुत स्वीकार कर रही थी। और तो और, स्वयं इंग्लैण्ड में भी पूरा प्रजासत्तात्मक शासन नहीं था। वहां का राजा प्रजा का चुना हुआ नहीं होता, आकस्मिक घटना का चुना हुआ होता है। राजा के घर में जो लड़का पैदा हो गया, वही बाद में राजगद्दी का अधिकारी बन जाता है। इसे महर्षि दयानन्द की बुद्धि का अद्‌भुत चमत्कार कहना चाहिए कि उन्होंने धर्म के क्षेत्र में उस सिद्धान्त का पूर्णता के साथ प्रयोग किया, जिसे अन्य धर्म तो क्या, राजनीति भी अपनाती हुई घबराती थी। मानते सब थे, परन्तु प्रयोग में नहीं ला सकते थे। समझा जाता था कि प्रजासत्तात्मक शासन को चलाने के लिए सदियों के शिक्षण की आवश्यकता है। भारतवासी तो क्या, उनसे अधिक शिक्षित लोग भी उसे काम में नहीं ला सकते थे। महर्षि दयानन्द ने उस सिद्धान्त को केवल भली प्रकार समझा ही नहीं, उसे व्यवहार योग्य बनाकर कार्यरूप में परिणत भी कर दिया और यह सब कुछ अंग्रेजी और पाश्चात्य शिक्षा से अनभिज्ञ होते हुए किया। यदि महर्षि की परोक्ष-दर्शिता में किसी को सन्देह हो तो केवल एक दृष्टान्त से उसका संशय दूर हो सकता है।

जो लोग आर्यसमाज के प्रजासत्तात्मक संगठन के गुणों या दोषों के लिए दूसरों को उत्तरदाता ठहराना चाहते हैं, वे महर्षि दयानन्द के साथ अन्याय करते हैं। शायद वे लोग चाहते हैं कि किसी दूसरे व्यक्ति को उत्तरदाता ठहरा देने से उन्हें समालोचना करने की स्वाधीनता मिल जायगी और महर्षि दयानन्द के ऊपर दोष नहीं लगेगा; परन्तु उनकी महर्षि के प्रति यह भक्ति वस्तुतः उनसे ऋषि पर बहुत बड़ा दोषारोपण करा देती है। उनके कथन का यही तात्पर्य हो सकता है कि महर्षि दयानन्द अपनी कोई सम्मति नहीं रखते थे- आर्यसमाज के संगठन जैसे आवश्यक विषय पर उन्होंने किसी दूसरे की तान पर ही गा दिया है, स्वतन्त्र बुद्धि का प्रयोग नहीं किया। जिस पुरुष ने संसार की

परवाह न करके एक रास्ता निकाल दिया है, उसके सम्बन्ध में यह कहना कि उसने किसी दूसरे के कहने से आर्यसमाज का स्थायी संगठन बना दिया है, लांछन लगाने से कम नहीं है। सम्मति तो सब लोग लेते हैं, परन्तु चुनाव अपने आधीन होना चाहिए। जो आदमी महर्षि के चरित्र को ध्यान से पढ़ेगा, वह निश्चयपूर्वक यह कह उठेगा कि हरेक विषय में इतिकर्तव्यता का चुनाव महर्षि दयानन्द अपनी मर्जी से किया करते थे।

परन्तु महर्षि दयानन्द ने आर्यसमाज का जो संगठन बनाया है, क्या वह सचमुच इस योग्य है कि किसी दूसरे को उसके बनाने का अपराधी ठहराया जाय ? क्या वह आर्यसमाज की उन्नति में बाधक हुआ है ?

लेखक की राय है कि आर्यसमाज का जो संगठन महर्षि दयानन्द ने बनाया है, वह बहुत उत्तम है। उससे भारतवर्ष की ही नहीं, अन्य देशों की धार्मिक तथा राज्य संस्थाएं भी शिक्षा ले सकती हैं। समय के अनुसार जो छोटे-मोटे परिवर्तन आवश्यक होते जायं उन्हें कर डाला जाय, परन्तु प्रधान अंशों में वर्तमान संगठन श्रेष्ठ है।

आर्यसमाज के संगठन की श्रेष्ठता पर लिखने से पूर्व आवश्यक प्रतीत होता है कि कुछ शब्द इस विषय पर लिखे जायं कि आर्यसमाज क्या वस्तु है? क्या वैदिकधर्मी मात्र के समूह का नाम आर्यसमाज है? या वैदिक धर्म के प्रचार के लिए जो सोसाइटी बनाई गई है वह आर्यसमाज है? दोनों प्रश्नों के उत्तर स्पष्ट हैं। यह आवश्यक नहीं कि वैदिकधर्मी मात्र आर्यसमाज के सभ्य हों; क्योंकि आर्यसमाज के सभ्य होने के लिए चन्दे की शर्त लाजमी है। संन्यासी चन्दा नहीं दे सकते और न गरीब लोग दे सकते हैं, ऐसी दशा में वे लोग सामान्यतया आर्यसमाज के सभासद् नहीं बन सकते। तब क्या वे वैदिकधर्मी नहीं हैं? वे वैदिकधर्मी अवश्य हैं। आर्यसमाज के बाहर रहते हुए भी वे वैदिकधर्मी हैं और हमेशा रहेंगे। आर्यजगत् आर्यसमाज तक परिमित नहीं है। आर्यसमाज तो उन लोगों की संस्था है जो वैदिक धर्म के प्रचार की अभिलाषा रहते हुए संगठन में शामिल होते हैं।

दृष्टान्त से यह विषय और अधिक स्पष्ट हो जाता है। एक शहर में तीन लाख निवासी निवास करते हैं। उनमें से वोट देने के अधिकारी केवल 25 हजार हैं और उनमें से भी म्युनिसिपल कमेटी के चुनाव में केवल 10 हजार निवासी भाग लेते हैं; ऐसी दशा में क्या 10 हजार ही शहर के निवासी समझे जाएंगे ? उत्तर 'हां' में नहीं हो सकता। उसी प्रकार आर्यजगत् आर्यसमाज से बहुत बड़ा है। आर्यसमाज शब्द भी दो अभिप्रायों से प्रयुक्त होता है। सामान्यत:

हरेक वैदिकधर्मी, महर्षि दयानन्द की शिक्षाओं को स्वीकार करनेवाला हरेक व्यक्ति आर्यसमाजी माना जाता है। आर्यजगत् के लिए आर्यसमाज शब्द का प्रयोग होता है। यह विस्तृत आर्यसमाज है।

आर्यसमाज एक निश्चित संगठन भी है। यह आवश्यक नहीं कि हरेक वैदिकधर्मी आर्यसमाज में सम्मिलित भी हो। आर्यसमाज उन वैदिक धर्मियों का संघ है, जो वैदिक शिक्षाओं के प्रचार और रक्षणार्थ इकट्ठे होते हैं। वैदिक धर्मियों का संघ आर्यसमाज से बहुत बड़ा है। यदि आर्यजगत् और आर्यसमाज के भेद को ठीक प्रकार से समझ लें तो यह आक्षेप करने का अवसर नहीं रहता कि संगठन ने आर्यसमाज को संकुचित बना दिया है। संकुचित बनाने का दोष आर्यसमाज के नियमों के बनानेवाले के सिर नहीं मढ़ा जा सकता। यह दोष तो हम लोगों का है, जो वैदिक धर्म को आर्यसमाज तक परिमित समझ बैठे हैं। यदि हम इस बात को अवगत कर लें कि वैदिकधर्मियों का समूह आर्यसमाज की संस्था से विस्तृत है, और आर्यसमाज उन लोगों का संगठन है जो वैदिक धर्म के प्रचार तथा रक्षण के लिए सभा में सम्मिलित होने की इच्छा रखते हैं, तो सम्पूर्ण कठिनाई दूर हो जाती है। उस दशा में आर्यसमाज का संगठन अत्यन्त उत्कृष्ट प्रतीत होगा।

आर्यसमाज के वर्तमान संगठन की पूर्णता और सुन्दरता को वे लोग भली प्रकार समझ सकेंगे, जिन्होंने भिन्न-भिन्न देशों की राजनैतिक और धार्मिक संस्थाओं का अनुशीलन किया हो। थोड़ी-बहुत बातों में समयानुकूल परिवर्तन होते ही रहते हैं, परन्तु सामान्य सिद्धान्तों में प्रतिनिधित्व की दृष्टि से आर्यसमाज का संगठन एक प्रकार से आदर्श है। सभासद् बनने की शर्त यह है कि ग्यारह मास तक चन्दा देनेवाला सभ्य रहा हो। चन्दा आमदनी का शतांश है। गरीब से गरीब भी आर्यसमाज का सभ्य रह सकता है, क्योंकि वोट के अधिकारी होने के लिए कोई राशि निश्चित नहीं है; छोटी-से-छोटी आमदनी का शतांश है। यही कारण है कि आर्यसमाज कभी अमीरों का संघ नहीं बन सकता। अधिकारियों का चुनाव प्रतिवर्ष होता है। प्रतिनिधियों का चुनाव तीसरे वर्ष आवश्यक है। सर्वसाधारण की सम्मति को जितनी अच्छी तरह आर्यसमाज के नियमानुसार बनी हुई सभाएं प्रतिबिम्बित करती हैं, शायद ही दूसरी सभाएं करती हों। स्विट्जरलैण्ड और अमेरिका को तो छोड़ दीजिये, साधारणतया अन्य देशों के राजनैतिक संगठन भी लोकमत के ऐसे अच्छे प्रतिनिधि नहीं हैं। संगठन के मजबूत होने का ही यह फल है कि बीसियों धार्मिक और राजनैतिक चोटों को खाकर भी आर्यसमाज की शक्ति वैसी ही बनी हुई है।

आर्यसमाज के संगठन पर एक आक्षेप हो सकता है। एक धार्मिक संस्था के धर्म-सम्बन्धी प्रश्नों को हल करने के लिए जिस प्रकार के प्रबन्ध की आवश्यकता है, वह आर्यसमाज में नहीं है। आर्यसभासदों, आर्य प्रतिनिधि सभाओं या सार्वदेशिक सभा के सभ्यों तथा अधिकारियों में किसी के लिए धार्मिक योग्यता आवश्यक नहीं है। परिणाम यह है कि सम्पूर्ण आर्यसंसार में एक भी प्रामाणिक सभा ऐसी नहीं है जो आर्य जनता का धार्मिक नेतृत्व कर सके। इसका उपाय करने के यत्न हुए हैं। कहीं विद्वत्परिषद् बनी है तो कहीं आर्य धर्मसभा की स्थापना हुई है। इसे कई सज्जन संगठन की अपूर्णता कह सकते हैं, परन्तु लेखक की राय है कि संगठन का इतना दोष नहीं, जितना आर्य-सभासदों का है। आर्य प्रतिनिधि सभाओं में ऐसे विद्वानों की अधिक संख्या को भेजना, जो धर्म के विषय में राय देने का अधिकार रखते हों, आर्य सभासदों का कर्तव्य है। नियमों का इतना ही दोष है कि उन्होंने सम्मति देनेवालों को यह स्पष्टता से नहीं बताया कि वे कैसे व्यक्तियों को अपने प्रतिनिधि चुनें; किन्तु समझदार पुरुषों को इतने विस्तृत निर्देश की आवश्यकता भी नहीं रहती। आज यदि आर्यसमाज के प्रबन्ध में व्यावहारिक पुरुषों की प्रधानता दिखाई देती है, तो उसका कारण केवल आर्य सभासदों की उपेक्षा-दृष्टि है। आर्य प्रतिनिधि सभाओं के साथ किसी दूसरी समानान्तर सभा को स्थापित करने का विचार उस आशय के विरुद्ध है, जो महर्षि दयानन्द के चित्त में था।

महर्षि दयानन्द ने आर्यसमाज का जो संगठन बनाया है उसकी मुख्य विशेषताएं दो हैं। वह बिल्कुल स्वाधीन और अपने-आप में सम्पूर्ण है और साथ ही लोकमत का सच्चा प्रतिनिधि है। आर्यसमाज अपने सभासदों की भलाई के लिए किसी अन्य संगठन की अपेक्षा नहीं करता। यदि अवसर आ पड़े तो वह अपने सभासदों की सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकता है। यह लोकमत को प्रतिबिम्बित करने का उत्तम साधन है। यही दो कारण हैं कि वह स्थिर है। यदि आर्यसमाज का ऐसा अच्छा संगठन न होता तो जो जबर्दस्त झकोरे इसे गिराने के लिए आते रहे हैं, वे कभी के कामयाब हो गए होते।

स्वामी दयानन्द की महानता

यहां महर्षि दयानन्द और उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों द्वारा समय-समय पर प्रकट की गई सम्मतियों का संकलन किया गया है, जिससे उनकी महत्ता का दिग्दर्शन मात्र हो सकता है-

◈ दयानन्द का चरित्र मेरे लिए ईर्ष्या और दु:ख का विषय है।....

महर्षि दयानन्द हिन्दुस्तान के आधुनिक ऋषियों में, सुधारकों में और श्रेष्ठ पुरुषों में एक थे।

उनके जीवन का प्रभाव हिन्दुस्तान पर बहुत अधिक पड़ा है।

-महात्मा मोहनदास कर्मचन्द गांधी

◈ मेरा सादर प्रणाम हो उस महान् गुरु दयानन्द को, जिसकी दृष्टि ने भारत के आध्यात्मिक इतिहास में सत्य और एकता को देखा और जिसके मन ने भारतीय जीवन के सब अंगों को प्रदीप्त कर दिया। जिस गुरु का उद्देश्य भारतवर्ष को अविद्या, आलस्य और प्राचीन ऐतिहासिक तत्त्व के अज्ञान से मुक्त कर सत्य और पवित्रता की जागृति में लाना था, उसे मेरा बारम्बार प्रणाम है।

मैं आधुनिक भारत के मार्गदर्शक उस दयानन्द को आदरपूर्वक श्रद्धांजलि देता हूं, जिसने देश की पतितावस्था में सीधे व सच्चे मार्ग का दिग्दर्शन कराया।

-डॉ. रवीन्द्रनाथ ठाकुर

◈ वह दिव्य ज्ञान का सच्चा सैनिक, विश्व को प्रभु की शरण में लाने वाला योद्धा, और मनुष्यों व संस्थाओं का शिल्पी तथा प्रकृति द्वारा आत्मा के मार्ग में उपस्थित की जाने वाली बाधाओं का वीर विजेता था और इस प्रकार मेरे समक्ष आध्यात्मिक क्रियात्मकता की एक शक्ति सम्पन्न मूर्ति उपस्थित होती है। इन दो शब्दों का, जो कि हमारी भावनाओं के अनुसार एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं, मिश्रण ही दयानन्द की उपयुक्त परिभाषा प्रतीत होती है। उसके व्यक्तित्व की व्याख्या की जा सकती है-एक मनुष्य, जिसकी आत्मा में परमात्मा है, चर्म चक्षुओं में दिव्य तेज है और हाथों में इतनी शक्ति है कि जीवन-तत्त्व से अभीष्ट स्वरूपवाली

मूर्ति घड़ सके तथा कल्पना को क्रिया में परिणत कर सके। वह स्वयं दृढ़ चट्टान थे। उनमें दृढ़ शक्ति थी कि चट्टान पर घन चलाकर पदार्थों को सुदृढ़ व सुडौल बना सकें। प्राचीन सभ्यता में विज्ञान के गुप्त भेद विद्यमान हैं, जिनमें से कुछ को अर्वाचीन विद्याओं ने ढूंढ लिया है, उनका परिवर्तन किया है और उन्हें अधिक समृद्ध व स्पष्ट कर दिया है, किन्तु दूसरे अभी तक निगूढ़ ही बने हुए हैं। इसलिए दयानन्द की इस धारणा में कोई अवास्तविकता नहीं है कि वेदों में विज्ञान सम्मत तथा धार्मिक सत्य निहित हैं।

वेदों का भाष्य करने के बारे में मेरा विश्वास है कि चाहे अंतिम पूर्ण अभिप्राय कुछ भी हो, किन्तु इस बात का श्रेय दयानन्द को ही प्राप्त होगा कि उसने सर्वप्रथम वेदों की व्याख्या के लिए निर्दोष मार्ग का आविष्कार किया था। चिरकालीन अव्यवस्था और अज्ञान परम्परा के अन्धकार में से सूक्ष्म और मर्मभेदी दृष्टि से उसी ने सत्य को खोज निकाला था। जंगली लोगों की रचना कही जाने वाली पुस्तक के भीतर उसके धर्म-पुस्तक होने का वास्तविक अनुभव उन्होंने ही किया था। ऋषि दयानन्द ने उन द्वारों की कुंजी प्राप्त की है, जो युगों से बन्द थे और उसने पटे हुए झरनों का मुख खोल दिया।

ऋषि दयानन्द के नियम बद्ध कार्य ही उनके आत्मिक शरीर के पुत्र हैं, जो सुन्दर, सुदृढ़ और सजीव हैं तथा अपने कर्त्ता की प्रत्याकृति हैं। वह एक ऐसे पुरुष थे जिन्होंने स्पष्ट और पूर्ण रीति से जान लिया था कि उन्हें किस कार्य के लिए भेजा गया है। **-श्री अरविन्द घोष**

◈ ऋषि दयानन्द ने भारत के शक्ति-शून्य शरीर में अपनी दुर्द्धर्ष शक्ति, अविचलता तथा सिंह-पराक्रम फूंक दिए हैं।

स्वामी दयानन्द सरस्वती उच्चतम व्यक्तित्व के पुरुष थे। यह पुरुषसिंह उनमें से एक था जिन्हें यूरोप प्रायः उस समय भुला देता है जब कि वह भारत के सम्बन्ध में अपनी धारणा बनाता है; किन्तु एक दिन यूरोप को अपनी भूल मानकर उसे याद करने के लिए बाधित होना पड़ेगा, क्योंकि उसके अन्दर कर्मयोगी, विचारक और नेता के उपयुक्त प्रतिभा का दुर्लभ सम्मिश्रण था।

दयानन्द ने अस्पृश्यता व अछूतपन के अन्याय को सहन नहीं किया और उससे अधिक उनके अपहृत अधिकारों का उत्साही समर्थक दूसरा कोई नहीं हुआ। भारत की स्त्रियों की शोचनीय दशा को सुधारने में भी

दयानन्द ने बड़ी उदारता व साहस से काम लिया। वास्तव में राष्ट्रीय भावना और जन-जागृति के विचार को क्रियात्मक रूप देने में सबसे अधिक प्रबल शक्ति उसी की थी। वह पुनर्निर्माण और राष्ट्र-संगठन के अत्यन्त उत्साही पैगम्बरों में से था। **-फ्रेंच लेखक रोम्यां रोलां**

◈ हमें वेदों के अध्ययन को प्रोत्साहन देने और यह सिद्ध करने में कि मूर्तिपूजा वेदसम्मत नहीं है, स्वामी दयानन्द के महान् उपकार को अवश्य स्वीकार करना चाहिए। आर्यसमाज के प्रवर्तक वर्तमान जाति-भेद की मूर्खता और उसकी हानियों के विरुद्ध अपने अनुयायियों को तैयार करने के अतिरिक्त यदि और कुछ भी न करते, तो भी वह वर्तमान भारत के बड़े नेता के रूप में अवश्य सम्मान पा जाते।

-जर्मन प्रोफेसर डॉ. विण्टरनीज

◈ मेरे निर्बल शब्द ऋषि की महत्ता का वर्णन करने में अशक्त हैं। ऋषि के अप्रतिम ब्रह्मचर्य, सत्य-संग्राम और घोर तपश्चर्या के लिए अपने हृदय के पूज्य भावों से प्रेरित होकर मैं उनकी वन्दना करता हूं।

मैं ऋषि को शक्ति सुत अर्थात् कर्मवीर योद्धा समझकर उनका आदर करता हूं। उनका जीवन राष्ट्र-निर्माण के लिए स्फूर्तिदायक, बलदायक और माननीय है।

दयानन्द उत्कट देशभक्त थे, अत: मैं राष्ट्रवीर समझकर उनकी वन्दना करता हूं। **-साधु टी.एल. वास्वानी**

◈ स्वामी दयानन्द नि:सन्देह एक ऋषि थे। उन्होंने अपने विरोधियों द्वारा फेंके गए ईंट-पत्थरों को शान्तिपूर्वक सहन कर लिया। उन्होंने अपने में महान् भूत और महान् भविष्य को मिला दिया। वह मरकर भी अमर हैं। ऋषि का प्रादुर्भाव लोगों को कारागार से मुक्त करने और जाति-बन्धन तोड़ने के लिए हुआ था। ऋषि का आदेश है- आर्यावर्त, उठ जाग! समय आ गया है, नए युग में प्रवेश कर, आगे बढ़!

-पाल रिचर्ड (प्रसिद्ध फ्रेंच लेखक)

◈ स्वामी दयानन्द सरस्वती ने हिन्दू-धर्म के सुधार का बड़ा कार्य किया, और जहां तक समाज सुधार का सम्बन्ध है, वह बड़े उदार हृदय थे। वे अपने विचारों को वेदों पर आधारित और उन्हें ऋषियों के ज्ञान पर अवलम्बित मानते थे। उन्होंने वेदों पर बड़े-बड़े भाष्य किये, जिससे मालूम होता है कि वे पूर्ण अभिज्ञ थे। उनका स्वाध्याय बड़ा व्यापक था।

-प्रो. एफ. मैक्समूलर

◈ स्वामी दयानन्द के सिद्धान्त उनके सत्यार्थप्रकाश में निहित हैं। यही सिद्धान्त वेदभाष्यभूमिका में हैं। स्वामी दयानन्द एक धार्मिक सुधारक थे। उन्होंने मूर्तिपूजा से अविराम युद्ध किया।

-सर वेलण्टाइन चिरौल

◈ आर्यसमाज समस्त संसार को वेदानुयायी बनाने का स्वप्न देखता है। स्वामी दयानन्द ने इसे जीवन और सिद्धान्त दिया। उनका विश्वास था कि आर्य जाति चुनी हुई जाति, भारत चुना हुआ देश और वेद चुनी हुई धार्मिक पुस्तक है।.

-ब्रिटेन के (स्व) प्रधानमन्त्री रेम्जे मैकडॉनल्ड

◈ स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुयायी उन्हें देवता-तुल्य जानते थे, और वह निस्सन्देह इसी योग्य थे। वह इतने विद्वान् और अच्छे आदमी थे कि प्रत्येक धर्म के अनुयायियों के लिए सम्मान पात्र थे। उनके समान व्यक्ति समूचे भारत में इस समय कोई नहीं मिल सकता। अतः प्रत्येक व्यक्ति का उनकी मृत्यु पर शोक करना स्वाभाविक है।

-सर सैयद अहमद खां

◈ मेरी सम्मति में स्वामी दयानन्द एक सच्चे जगत-गुरु और सुधारक थे।

-मि. फॉक्स पिट् (जनरल सेक्रेटरी, मॉरल एजूकेशन लीग, लण्डन)

◈ स्वामी दयानन्द सरस्वती उन महापुरुषों में से थे, जिन्होंने आधुनिक भारत का निर्माण किया और जो उसके आचार-सम्बन्धी पुनरुत्थान तथा धार्मिक पुनरुद्धार के उत्तरदाता हैं। हिन्दू समाज का उद्धार करने में आर्यसमाज का बहुत बड़ा हाथ है। रामकृष्ण मिशन ने बंगाल में जो कुछ किया, उससे कहीं अधिक आर्यसमाज ने पंजाब और संयुक्त प्रांत में किया। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि पंजाब का प्रत्येक नेता आर्यसमाजी है। स्वामी दयानन्द को मैं एक धार्मिक और समाज-सुधारक तथा कर्मयोगी मानता हूं। संगठन कार्यों के सामर्थ्य और प्रयास की दृष्टि से आर्यसमाज अनुपम संस्था है। **-सुभाषचन्द्र बोस**

◈ उनकी मृत्यु से भारत माता ने अपने योग्यतम पुत्रों में से एक को खो दिया।

- कर्नल अल्कॉट (थियोसॉफिकल सोसायटी के प्रेसीडेण्ट)

◈ स्वामी दयानन्द सरस्वती राष्ट्रीय, सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से भारत का एकीकरण चाहते थे। भारतवासियों को राष्ट्रीयता के सूत्र में ग्रथित करने के लिए उन्होंने देश को विदेशी दासता से मुक्त करना आवश्यक समझा था।

- श्री रामानन्द चटर्जी (सम्पादक 'मॉडर्न रिव्यू')

- जब भारत के उत्थान का इतिहास लिखा जाएगा तो नंगे फकीर दयानन्द सरस्वती को उच्चासन पर बिठाया जाएगा। **-सर यदुनाथ सरकार**
- स्वामी दयानन्द मेरे गुरु हैं। मैंने संसार में केवल उन्हीं को गुरु माना है। वह मेरे धर्म के पिता हैं और आर्यसमाज मेरी धर्म की माता है। इन दोनों की गोद मैं मैं पला। मुझे इस बात का गर्व है कि मेरे गुरु ने मुझे स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करना, बोलना और कर्तव्य पालन करना सिखाया तथा मेरी माता ने मुझे एक संस्था में बद्ध होकर नियमानुवर्तिता का पाठ दिया। **-पंजाब केसरी लाला लाजपतराय**
- स्वामी दयानन्द के उच्च व्यक्तित्व और चरित्र के विषय में निस्सन्देह सर्वत्र प्रशंसा की जा सकती है। वे सर्वथा पवित्र तथा अपने सिद्धान्तों के अनुसार आचरण करनेवाले महानुभाव थे । वह सत्य के अत्यधिक प्रेमी थे। **-रेवरेण्ड सी. एफ. एण्ड्यूज**
- इसका श्रेय केवल स्वामी दयानन्द को ही है कि हिन्दू लोग आधी शताब्दी में ही रूढ़िवाद और पौराणिक देवी-देवताओं की पूजा छोड़कर एक अत्यन्त शुद्ध ईश्वरवाद को मानने लगे हैं।

-प्रिंसिपल एस. के. रुर्द

- महर्षि दयानन्द ने भारत और संसार मात्र की जो सेवा की है, उसे मैं भली-भांति जानता हूं। वह भारतवर्ष के सर्वोत्तम महापुरुषों में से थे। स्वामी जी ने मातृ-भूमि की सबसे बड़ी सेवा यह की है कि उसमें जातीय शिक्षा का विचार पैदा कर दिया है। **-श्री जी. एस. अरुण्डेल**
- ऋषि दयानन्द ने हिन्दू-समाज के पुनरुत्थान में इतना अधिक हाथ बटाया कि उन्हें 19वीं शताब्दी का प्रमुखतम हिन्दू समझा जाएगा।

-श्री तारकनाथ दास, एम.ए., पी-एच.डी. (म्यूनिख)

- स्वामी दयानन्द भारतवर्ष के उन धार्मिक महापुरुषों में से एक हैं, जिनका गुणानुवाद करने में ही जीवन समाप्त हो सकता है।

  उन्होंने मन, वचन और कर्म की स्वतन्त्रता का सन्देश दिया तथा मानव मात्र को समानता का उपदेश दिया। वह अपने जीवन और मृत्यु में महान् ही रहे। **-श्रीमती सरलादेवी चौधरानी**
- महर्षि दयानन्द भारत माता के उन प्रसिद्ध और उच्च आत्माओं में से थे, जिनका नाम संसार के इतिहास में सदैव चमकते हुए सितारों की तरह प्रकाशित रहेगा। वह भारत माता के उन संपूतों में से हैं, जिनके

व्यक्तित्व पर जितना भी अभिमान किया जाए थोड़ा है। नैपोलियन और सिकन्दर जैसे अनेक सम्राट् एवं विजेता संसार में हो चुके हैं, परन्तु स्वामी उन सबसे बढ़कर थे। **-खदीजा बेगम एम.ए.**

- ईसाइयत और पश्चिमी सभ्यता के मुख्य हमले से हिन्दुस्तानियों को सावधान करने का सेहरा यदि किसी व्यक्ति के सिर बांधने का सौभाग्य प्राप्त हो तो स्वामी दयानन्द जी की ओर इशारा किया जा सकता है। 19वीं सदी में स्वामी दयानन्द जी ने भारत के लिए जो अमूल्य काम किया है, उससे हिन्दू जाति के साथ-साथ मुसलमानों तथा दूसरे धर्मावलम्बियों को भी बहुत लाभ पहुंचा है। **-पीर मुहम्मद यूनिस**
- स्वामी दयानन्द ही पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने 'हिन्दुस्तान हिन्दुस्तानियों के लिए' का नारा लगाया था। ..... आर्यसमाज के लिए मेरे हृदय में शुभ इच्छाएं हैं और उस महान पुरुष के लिए, जिसका आप आर्य आदर करते हैं, मेरे हृदय में सच्ची पूजा की भावना है।

-श्रीमती ऐनी बैसेण्ट

- स्वामी दयानन्द जी पर संकीर्णता का दोष लगाना भ्रमात्मक और मिथ्या है। उनकी शिक्षाओं का प्रमुख लक्ष्य एकता रहा और इस्लाम का आतंक हिन्दुओं को जाति-भेद की उपेक्षा करके संगठित होने में बहुत सहायक सिद्ध हुआ। उनके प्रयत्नों से आर्य या हिन्दू एक जाति और वेदों का आदर्श 'पारस्परिक एकसूत्रता' के साधन बन गए।

-श्री नृसिंह चिन्तामणि केलकर

thearyasamaj.org

ओ३म्

स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाशः

सर्वतन्त्र सिद्धान्त अर्थात् साम्राज्य सार्वजनिक धर्म जिसको सदा से सब मानते आए, मानते हैं और मानेंगे भी, इसीलिए उसको सनातन नित्यधर्म कहते हैं कि जिसका विरोधी कोई भी न हो सके। यदि अविद्यायुक्त जन अथवा किसी मत वाले के भ्रमाए हुए जन, जिसको अन्यथा जानें वा मानें, उसका स्वीकार कोई भी बुद्धिमान् नहीं करते, किन्तु जिसको आप्त अर्थात् सत्यमानी, सत्यवादी, सत्यकारी, परोपकारक, पक्षपातरहित विद्वान् मानते हैं, वही सबको मन्तव्य और जिसको नहीं मानते वह अमन्तव्य होने से प्रमाण के योग्य नहीं होता। अब जो वेदादि सत्यशास्त्र और ब्रह्मा से लेकर जैमिनिमुनि पर्यन्तों के माने हुए ईश्वरादि पदार्थ हैं जिनको कि मैं भी मानता हूं, सब सज्जन महाशयों के सामने प्रकाशित करता हूं। मैं अपना मन्तव्य उसी को जानता हूं कि जो तीन काल में सबको एक सा मानने योग्य है। मेरा कोई नवीन कल्पना वा मतमतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है। किन्तु जो सत्य है, उसको मानना मनवाना और जो असत्य है, उसको छोड़ना और छुड़वाना, मुझको अभीष्ट है। यदि मैं पक्षपात करता तो आर्यावर्त में प्रचारित मतों में से किसी एक मत का आग्रही होता। किन्तु जो-जो आर्यावर्त वा अन्य देशों में अधर्मयुक्त चाल-चलन हैं, उनका स्वीकार और जो धर्मयुक्त बातें हैं उनका त्याग नहीं करता, न करना चाहता हूं। क्योंकि ऐसा करना मनुष्यधर्म से बहिः है। मनुष्य उसी को कहना कि मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख-दुःख और हानि-लाभ को समझे, अन्यायकारी बलवान् से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे। इतना ही नहीं, किन्तु अपने सर्व सामर्थ्य से धर्मात्माओं की चाहे वे महा अनाथ, निर्बल और गुणरहित क्यों न हों, उनकी रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण, और अधर्मी चाहे चक्रवर्ती, सनाथ, महाबलवान् और गुणवान् भी हो, तथापि उसका नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे; अर्थात् जहां तक हो सके वहां तक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति, सर्वथा किया करे। इस काम में चाहे उसको कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जावें, परन्तु

इस मनुष्यपनरूप धर्म से पृथक् कभी न होवे। इसमें श्रीमान् महाराज भर्तृहरि जी आदि ने श्लोक कहे हैं, उनका लिखना उपयुक्त समझकर लिखता हूं-

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा.
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥ १ ॥

-भर्तृहरिः

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद, धर्म त्वजेज्जीवितस्यापि हेतोः ।
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ॥२॥

-महाभारते

एक एव सुहद्धर्मो निधनेप्यनुयाति यः।
शरीरेण सम नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति ॥ ३ ॥

-मनुस्मृति

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः ।
येनाक्रमत्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥ ४ ॥

नहि सत्यात्परो धर्मो, नानृतात्पातकं परम् ।
नहि सत्यात्परं ज्ञानं तस्मात् सत्यं समाचरेत् ॥ ५॥

-उपनिषद्

नीति-निपुण लोग निन्दा करें, या स्तुति, लक्ष्मी आए, जहां चाहे जाए, मृत्यु आज हो या युग-युगान्तर में, धर्मपरायण धीर जन न्याय पथ से कभी भी विचलित नहीं होते। 1 ।

मनुष्य को उचित है कि काम, भय, लोभ आदि किसी भी कारण से एवं प्राणों के संकट में पड़ जाने पर भी धर्म का परित्याग न करे; क्योंकि सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख तो होता ही रहता है। सुख और दुःख अनित्य हैं, परन्तु धर्म नित्य है। इसी प्रकार जीव भी नित्य है, परन्तु जीवों के जन्म और मरण का कारण अनित्य है। 2

धर्म ही एकमात्र ऐसा श्रेष्ठ मित्र है, जो कि मृत्यु के पश्चात् भी जीव के साथ ही जाता है। और सब मित्र बन्धु-बान्धव तथा पदार्थ तो शरीर के नाश के साथ-ही-साथ नष्ट हो जाते हैं। 3 ।

सत्य की ही सदैव विजय होती है, असत्य की नहीं। सत्य से ही ज्ञान का मार्ग विस्तृत होता है। आप्त कामनाओं वाले ऋषि लोग निश्चय करके, जहां आक्रमण करते हैं, अर्थात् जिनको प्राप्त करने का यत्न निरन्तर किया करते हैं, वह सत्य का ही सर्वोत्कृष्ट स्थान है। 4 ।

सत्य से बढ़कर और कोई धर्म नहीं है और न ही असत्य से बड़ा कोई पातक है। सत्य से बढ़कर कोई दूसरा ज्ञान भी नहीं है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को उचित है कि वह सब कालों और सब अवस्थाओं में एकमात्र सत्य का ही व्यवहार करे । 5 ।

इन्हीं महाशयों के श्लोकों के अभिप्राय के अनुकूल सबको निश्चय रखना योग्य है। अब में जिन-जिन पदार्थों को, जैसा जैसा मानता उन सबका वर्णन संक्षेप से यहां करता हूं कि जिनका विशेष व्याख्यान इन ग्रन्थ में अपने-अपने प्रकरण में कर दिया है। इनमें से -

1. प्रथम **'ईश्वर'** कि जिसके ब्रह्म, परमात्मादि नाम हैं, जो सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त है, जिसके गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हैं, जो सर्वज्ञ, निराकार, सर्वव्यापक, अजन्मा, अनन्त, सर्वशक्तिमान, दयालु, न्यायकारी, सब सृष्टि का कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता, सब जीवों को कर्मानुसार सत्यन्याय से फलदाता आदि लक्षणयुक्त है, उसी को परमेश्वर मानता हूं।
2. **चारों 'वेदों'** (विद्या धर्मयुक्त ईश्वरप्रणीत संहिता मन्त्र- भाग) को निर्भ्रान्त स्वतः प्रमाण मानता हूं। वे स्वयं प्रमाणरूप हैं कि जिनके प्रमाण होने में किसी अन्य ग्रन्थ की अपेक्षा नहीं। जैसे सूर्य वा प्रदीप अपने स्वरूप के स्वतः प्रकाशक और पृथिव्यादि के भी प्रकाशक होते हैं, वैसे चारों वेद हैं, और चारों वेदों के ब्राह्मण, छः अंग, छः उपांग, चार उपवेद और 1127 (ग्यारह सौ सत्ताईस) वेदों की शाखा, जो कि वेदों के व्याख्यानुरूप ब्रह्मादि महर्षियों के बनाए ग्रन्थ हैं, उनको परतः प्रमाण अर्थात् वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण और जो इनमें वेदविरुद्ध वचन हैं, उनका अप्रमाण करता हूं।
3. जो पक्षपातरहित न्यायाचरण, सत्यभाषणादियुक्त ईश्वराज्ञा वेदों से अविरुद्ध है उसको **'धर्म'**, और जो पक्षपातसहित अन्यायाचरण मिथ्याभाषणादि ईश्वराज्ञाभंग वेदविरुद्ध है, उसको **'अधर्म'** मानता हूं।
4. जो इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और ज्ञानादि गुणयुक्त, अल्पज्ञ, नित्य है उसी को **'जीव'** मानता हूं।
5. **जीव** और ईश्वर स्वरूप और वैधर्म्य से भिन्न और व्याप्य व्यापक और साधर्म्य से अभिन्न हैं, अर्थात् जैसे आकाश से मूर्तिमान् द्रव्य कभी भिन्न न था, न है, न होगा और न कभी एक था, न है, न होगा, इस प्रकार परमेश्वर और जीव को व्याप्य व्यापक, उपास्य-उपासक और पिता-पुत्र आदि सम्बन्धयुक्त मानता हूं।
6. **'अनादि पदार्थ'** तीन हैं। एक ईश्वर, द्वितीय जीव, तीसरा प्रकृति अर्थात् जगत् का कारण इन्हीं को नित्य भी कहते हैं। जो नित्य पदार्थ हैं, उनके गुण, कर्म, स्वभाव भी नित्य हैं।
7. **'प्रवाह से अनादि'** जो संयोग से द्रव्य-गुण-कर्म उत्पन्न होते हैं, वे

वियोग के पश्चात् नहीं रहते, परन्तु जिससे प्रथम संयोग होता है, वह सामर्थ्य उनमें अनादि है और उससे पुनरपि संयोग होगा तथा वियोग भी इन तीनों को प्रवाह से अनादि मानता हूं।

8. **'सृष्टि'** उसको कहते हैं, जो पृथक् द्रव्यों का ज्ञान युक्तिपूर्वक मेल होकर नानारूप बनना।
9. **'सृष्टि का प्रयोजन'** यही है कि जिसमें ईश्वर के सृष्टि-निमित्त गुण, कर्म, स्वभाव का साफल्य होना। जैसे किसी ने किसी से पूछा कि नेत्र किसलिए हैं? उसने कहा-श्देखने के लिए।' वैसे ही सृष्टि करने के ईश्वर के सामर्थ्य की सफलता सृष्टि करने में है और जीवों के कर्मों का यथावत् भोग करना आदि भी।
10. **'सृष्टि सकर्तृक'** है, इसका कर्त्ता पूर्वोक्त ईश्वर है। क्योंकि सृष्टि की रचना देखने और जड़ पदार्थ में अपने-आप यथायोग्य बीजादि स्वरूप बनने का सामर्थ्य न होने से सृष्टि का 'कर्ता' अवश्य है।
11. **'बन्ध'** सनिमित्तक अर्थात् अविद्या निमित्त से है। जो-जो पापकर्म -ईश्वरभिन्नोपासना, अज्ञानादि, सब दु:ख-फल करने वाले हैं। इसलिए यह 'बन्ध' है कि जिसकी इच्छा नहीं और भोगना पड़ता है।
12. **'मुक्ति'** अर्थात् सर्व दु:खों से छूटकर बन्धरहित सर्वव्यापक ईश्वर और सृष्टि में स्वेच्छा से विचरना, नियत समय पर्यन्त मुक्ति के आनन्द को भोग के पुन: संसार में आना।
13. **'मुक्ति के साधन'** ईश्वरोपासना अर्थात् योगाभ्यास, धर्मानुष्ठान, ब्रह्मचर्य से विद्याप्राप्ति, आप्त विद्वानों का संग, सत्यविद्या, सुविचार और पुरुषार्थ आदि हैं।
14. **'अर्थ'** वह है कि जो धर्म ही से प्राप्त किया जाय, और जो अधर्म से सिद्ध होता है उसको 'अनर्थ' कहते हैं।
15. **'काम'** वह है कि जो धर्म और अर्थ से प्राप्त किया जाय।
16. **'वर्णाश्रम'** गुण-कर्मों की योग्यता से मानता हूं।
17. **'राजा'** उसी को कहते हैं, जो शुभ गुण, कर्म, स्वभाव से प्रकाशमान, पक्षपातरहित न्यायधर्म का सेवी, प्रजाओं में पितृवत् वर्ते और उनको पुत्रवत् मान के, उनकी उन्नति और सुख बढ़ाने में सदा यत्न करे।
18. **'प्रजा'** उसको कहते हैं कि जो पवित्र गुण, कर्म, स्वभाव को धारण करके, पक्षपातरहित न्याय-धर्म के सेवन से राजा और प्रजा को चाहती हुई, राजविद्रोहरहित, राजा के साथ पुत्रवत् वर्ते।

19. जो सदा विचारकर असत्य को छोड़ सत्य का ग्रहण करे, अन्यायकारियों को हटावे और न्यायकारियों को बढ़ावे, अपने आत्मा के समान सबका सुख चाहे, सो 'न्यायकारी' है, उसको मैं भी ठीक मानता हूं।
20. **'देव'** विद्वानों को और अविद्वानों को 'असुर', पापियों को 'राक्षस', अनाचारियों को 'पिशाच' मानता हूं।
21. उन्हीं विद्वानों, माता, पिता, आचार्य, अतिथि, न्यायकारी राजा और धर्मात्माजन, पतिव्रता स्त्री और स्त्रीव्रत पति का सत्कार करना 'देवपूजा' कहाती है, इससे विपरीत 'अदेवपूजा'। इनकी मूर्तियों को पूज्य और इतर पाषाणादि जड़मूर्तियों को सर्वथा अपूज्य समझता हूं।
22. **'शिक्षा'** जिससे विद्या, सभ्यता, धर्मात्मता, जितेन्द्रियतादि की बढ़ती होवे और अविद्यादि दोष छूटें, उसको शिक्षा कहते हैं।
23. **'पुराण'** जो ब्रह्मादि के बनाए ऐतरेयादि ब्राह्मण-पुस्तक हैं, उन्हीं को पुराण, इतिहास, कल्प, गाथा और नाराशंसी नाम से मानता हूं, अन्य भागवतादि को नहीं।
24. **'तीर्थ'** जिससे दुःखसागर से पार उतरें कि जो सत्यभाषण, विद्या, सत्संग, यमादि योगाभ्यास, पुरुषार्थ, विद्यादानादि शुभ कर्म हैं, उन्हीं को तीर्थ समझता हूं, इतर जलस्थलादि को नहीं।
25. **'पुरुषार्थ प्रारब्ध से बड़ा'** इसलिए है कि जिससे संचित प्रारब्ध बनते, जिसके सुधरने से सब सुधरते और जिसके बिगड़ने से सब बिगड़ते हैं, इसी से 'प्रारब्ध' की अपेक्षा 'पुरुषार्थ' बड़ा है।
26. **'मनुष्य'** को सबसे यथायोग्य स्वात्मवत् सुख, दुःख, हानि, लाभ में वर्त्तना श्रेष्ठ, अन्यथा वर्त्तना बुरा समझता हूं।
27. **'संस्कार'** उसको कहते हैं कि जिससे शरीर, मन और आत्मा उत्तम होवे। वह निषेकादि श्मशानान्त सोलह प्रकार का है। इसको कर्त्तव्य समझता हूं और दाह के पश्चात् मृतक के लिए कुछ भी न करना चाहिए।
28. **'यज्ञ'** उसको कहते हैं कि जिसमें विद्वानों का सत्कार, यथायोग्य शिल्प अर्थात् रसायन जो कि पदार्थविद्या, उससे उपयोग और विद्यादि शुभगुणों का दान, अग्निहोत्रादि जिनसे वायु, वृष्टि, जल, ओषधि की पवित्रता करके सब जीवों को सुख पहुंचाना है, उसको उत्तम समझता हूं।
29. जैसे **'आर्य'** श्रेष्ठ और **'दस्यु'** दुष्ट मनुष्यों को कहते हैं, वैसे ही मैं भी मानता हूँ।
30. **'आर्यावर्त'** देश इस भूमि का नाम इसलिए है कि इसमें आदिसृष्टि

से आर्य लोग निवास करते हैं, परन्तु इसकी अवधि उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्याचल, पश्चिम में अटक और पूर्व में ब्रह्मपुत्र नदी है। इन चारों के बीच में जितना देश है, उसको 'आर्यावर्त' कहते हैं और जो इनमें सदा रहते हैं उनको भी 'आर्य' कहते हैं।

31. जो सांगोपांग वेद-विद्याओं का अध्यापक सत्याचार का ग्रहण और मिथ्याचार का त्याग करावे, वह 'आचार्य' कहाता है।
32. **'शिष्य'** उसको कहते हैं कि जो सत्यशिक्षा और विद्या को ग्रहण करने योग्य, धर्मात्मा, विद्याग्रहण की इच्छा और आचार्य का प्रिय करनेवाला है।
33. **'गुरु'** माता-पिता और जो सत्य को ग्रहण करावे और असत्य को छुड़ावे, वह भी 'गुरु' कहाता है।
34. **'पुरोहित'** जो यजमान का हितकारी सत्योपदेष्टा होवे।
35. **'उपाध्याय'** जो वेदों का एकदेश वा अंगों को पढ़ाता हो
36. **'शिष्टाचार'** जो धर्माचरणपूर्वक ब्रह्मचर्य से विद्या ग्रहण कर, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण, असत्य का परित्याग करना है, यही शिष्टाचार है और जो इसको करता है, वह 'शिष्ट' कहाता है।
37. प्रत्यक्षादि आठ प्रमाणोंश को भी मानता हूं।
38. **'आप्त'** जो यथार्थवक्ता, धर्मात्मा, सबके सुख के लिए प्रयत्न करता है, उसी को 'आप्त' कहता हूं।
39. **'परीक्षा'** पांच प्रकार की है। इसमें से प्रथम जो ईश्वर उसके गुण-कर्म-स्वभाव और वेदविद्या, दूसरी प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण, तीसरी सृष्टिक्रम, चौथी आप्तों का व्यवहार और पांचवीं अपने आत्मा की पवित्रता विद्या इन पांच परीक्षाओं से सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण, असत्य का परित्याग करना चाहिए।
40. **'परोपकार'** जिससे सब मनुष्यों के दुराचार दुःख छूटें, श्रेष्ठाचार और सुख बढ़े, उसके करने को परोपकार कहता हूं।
41. **'स्वतन्त्र'-'परतन्त्र'** जीव अपने कामों में स्वतन्त्र और कर्मफल भोगने में ईश्वर की व्यवस्था से परतन्त्र, वैसे ही ईश्वर अपने सत्याचार आदि काम करने में स्वतन्त्र है।
42. **'स्वर्ग'** नाम सुखविशेष भोग और उसकी सामग्री की प्राप्ति का है।
43. **'नरक'** जो दुःखविशेष भोग और उसकी सामग्री की प्राप्ति का होना है।
44. **'जन्म'** जो शरीर धारण कर प्रकट होना सो पूर्व पर और मध्य भेद से तीनों प्रकार का मानता हूं।

45. शरीर के संयोग का नाम **'जन्म'** और वियोगमात्र को **'मृत्यु'** कहते हैं।
46. **'विवाह'** जो नियमपूर्वक प्रसिद्धि से अपनी इच्छा करके पाणिग्रहण करना, वह 'विवाह' कहाता है।
47. **'नियोग'** विवाह के पश्यात् पति के मर जाने आदि वियोग में, अथवा नपुंसकत्वादि स्थिर रोगों में, स्त्री वा पुरुष आपत्काल में स्ववर्ण वा अपने से उत्तम वर्णस्थ स्त्री वा पुरुष के साथ सन्तानोत्पत्ति करना।
48. **'स्तुति'** गुण-कीर्तन, श्रवण और ज्ञान होना; इसका फल प्रीति आदि होते हैं।
49. **'प्रार्थना'** अपने सामर्थ्य के उपरान्त ईश्वर के सम्बन्ध से जो विज्ञान आदि प्राप्त होते हैं, उनके लिए ईश्वर से याचना करना और इसका फल निरभिमान आदि होता है।
50. **'उपासना'** जैसे ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हैं, वैसे अपने करना, ईश्वर को सर्वव्यापक, अपने को व्याप्य जानके ईश्वर के समीप हम और हमारे समीप ईश्वर है- ऐसा ऐसा निश्चय योगाभ्यास से साक्षात् करना, उपासना कहाती। है; इसका फल ज्ञान की उन्नति आदि हैं।
51. **'सगुणनिर्गुणस्तुतिप्रार्थनोपासना'** जो गुण परमेश्वर में हैं, उनसे युक्त और जो-जो नहीं हैं, उनसे पृथक् मानकर प्रशंसा करना 'सगुणनिर्गुणस्तुति'; शुभगुणों के ग्रहण की ईश्वर से इच्छा और दोष छुड़ाने के लिए परमात्मा का सहाय चाहना 'सगुणनिर्गुण प्रार्थना'; और सब गुणों से सहित, सब दोषों से रहित परमेश्वर को मानकर, अपने आत्मा को उसके और उसकी आज्ञा के अर्पण कर देना 'सगुणनिर्गुणोपासना' होती है।

ये संक्षेप से स्वसिद्धान्त दिखला दिये हैं। इनकी विशेष व्याख्या इसी **'सत्यार्थप्रकाश'** के प्रकरण द्वितीय में है तथा **'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका'** आदि ग्रन्थों में भी लिखी है, अर्थात् जो-जो बात सबके सामने माननीय है, उनको मानना अर्थात् जैसे सत्य बोलना सबके सामने अच्छा और मिथ्या बोलना बुरा है, ऐसे सिद्धान्तों को स्वीकार करता हूं; और जो मतमतान्तर के परस्पर विरुद्ध झगड़े हैं, उनको मैं पसन्द नहीं करता। क्योंकि इन्हीं मतवालों ने अपने मतों का प्रचार कर मनुष्यों को फंसा के परस्पर शत्रु बना दिये हैं। इस बात को काट, सर्व सत्य का प्रचार कर, सबको ऐक्यमत में करा, द्वेष छुड़ा, परस्पर में दृढ़ प्रीतियुक्त कराके सबसे सबको सुखलाभ पहुंचाने के लिए मेरा प्रयत्न और अभिप्राय है। सर्वशक्तिमान् परमात्मा की कृपा, सहाय और आप्तजनों की सहानुभूति से 'यह सिद्धान्त सर्वत्र भूगोल में शीघ्र प्रवृत्त

हो जावे' जिससे सब लोग सहज से धर्मार्थ-काम-मोक्ष की सिद्धि करके सदा उन्नत और आनन्दित होते रहें, यही मेरा मुख्य प्रयोजन है।

अलमतिविस्तरेण बुद्धिमद्वर्येषु

ओम् शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्य्यमा।। शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः ।। नमो ब्रह्मणे । नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम् । ऋतमवादिषम्। सत्यमवादिषम् । तन्मामावीत्। तद्वक्तारमावीत्। आवीन्माम् । आवीद्वक्तारम् ओ३म् शान्तिः, शान्तिः शान्तिः ।। 1

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्याणां परमविदुषां श्री विरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां शिष्येण श्रीमद्दयानन्दसरस्वती- स्वामिना विरचितः स्वमन्तव्यामन्तव्य-प्रकाशः सम्पूर्तिमगमत् ।

thearyasamaj.org

महर्षि दयानन्द की कुछ प्रेरक शिक्षाएं

स्वदेशी का संदेश

परदेशी स्वदेश में व्यवहार व राज्य करें तो बिना दारिद्रय और दुख के दूसरा कुछ भी नहीं हो सकता। **-सत्यार्थ प्रकाश दशम समुल्लास पृष्ठ- 251**

गोरक्षा संदेश

हे राजपुरुष, जैसे सूर्य मेघ को मार और उसको भूमि में गिराकर सब प्राणियों को प्रसन्न करता है। वैसे ही गौओं को मारने वालों को मार गो आदि पशुओं को निरंतर सुखी करो। **-ऋग्वेद भाष्य 1/21/10**

किसान की महिमा

जो जन भूमि के गुणों को जानने वालों की विद्या को जानके उससे उपयोग करना जानते हैं वे अत्यन्त बल को पाकर सब पृथ्वी का राज्य कर सकते हैं।

-ऋग्वेद भाष्य 1/160/5

राष्ट्र प्रेम

जिस देश के पदार्थों से अपना शरीर बना, अब भी पालन होता है, आगे होगा, उसकी उन्नति तन-मन-धन से सब जने मिलकर प्रीति से करें।

-सत्यार्थ प्रकाश 11वाँ समुल्लास

संस्कृत ही सभी भाषाओं का मूल है

सब देश भाषाओं का मूल संस्कृत है। संस्कृत जब बिगड़ती है तब अपभ्रंश कहाता है। फिर अपभ्रंश से देश भाषाएं होती हैं। जैसे कि 'घट' शब्द से घड़ा, 'घृत' शब्द से घी, 'दुग्ध' शब्द से दूध, 'नवीन' शब्द से नैनू, 'अक्षि' शब्द से आंख, 'कर्ण' शब्द से कान, 'नासिका' शब्द से नाक, 'जिह्वा' शब्द से जीभ, 'मातर' शब्द से मादर, 'यूयं' शब्द से यू (You), 'वयं' शब्द से वी (We), 'गूढ़' शब्द से गौड (God), इत्यादि जान लेना।

thearyasamaj.org

राजा वंशक्रमानुगत न होकर निर्वाचित होना चाहिए

यह सभापति या सभाध्यक्ष राजा वंशक्रमानुगत न होकर 'निर्वाचित' या प्रजाजन (जनता) द्वारा इस पद पर नियुक्त होना चाहिए। **ऋग्वेद भाष्य**

राजा प्रजा धर्म विषय

''.....आर्यों की यह एक बात बड़ी उत्तम थी कि जिस सभा वा न्यायाधीश के सामने अन्याय हो, वह प्रजा का दोष नहीं मानते थे, किन्तु वह दोष सभाध्यक्ष, सभासद् और न्यायाधीश का ही गिना जाता था। इसलिए वे लोग सत्य न्याय करने में अत्यन्त पुरुषार्थ करते थे, जिससे आर्यावर्त्त के न्यायघर में कभी अन्याय नहीं होता था। और जहां होता था वहां उन्हीं न्यायाधीशों को दोष देते थे। यही सब आर्यों का सिद्धान्त है। अर्थात् इन्हीं वेदादि शास्त्रों की रीति से आर्यों ने भूगोल में करोड़ों वर्ष राज्य किया है, इसमें कुछ सन्देह नहीं।''
॥ इति संक्षेपतो राजप्रजाधर्मविषयः॥22॥ स्रोत-ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

प्रधानमंत्री के विशेष गुण

राजा उसी को कहते हैं जो शुभ गुण, कर्म, स्वभाव से प्रकाशमान, पक्षपात रहित न्यायधर्म का सेवी, प्रजाओं में पितृवत् वर्ते और उनको पुत्रवत मान के उनकी उन्नति और सुख को बढ़ाने मे सदा यत्न करे। **-स्वमन्तव्यामंतव्य**

आपसी फूट का दुष्परिणाम

आर्यों की आपस की फूट और ब्राह्मणों ने अपने स्वार्थ के कारण दूसरे वर्ण के लोगों को वेद नहीं पढ़ाए, परिणाम स्वरूप हमारे धर्म के इतने खण्ड हो गए हैं कि अब यह जानना कटिन हो गया है उनमें से कौन-सा ठीक है।
(महर्षि दयानन्द जीवन चरित पृष्ठ 298)

आपसी फूट

चक्रवर्ती राज्य का नाश उस समय तक नहीं होता, जब तक कि आपस में फूट न हो।
(पूना प्रवचन (उपदेश मंजरी) पृष्ठ 83)

अस्पृश्यता और भेदभाव से देश की हानि

इसी मूढ़ता से इन लोगों ने चौका लगाते-लगाते विरोध करते-करते सब

स्वातंत्रय, आनन्द, धन-राज्य, विद्या और पुरुषार्थ पर चौका लगाकर हाथ पर हाथ धरे बैठे हैं और इच्छा करते हैं कि कुछ पदार्थ मिले तो पकाकर खावें। परन्तु वैसा न होने पर जानो सब आर्यावर्त देश में चौका लगाकर सर्वथा नष्ट कर दिया है। **-सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ- 250**

कर व्यवस्था के दोष

सरकार कागद (स्टाम्प) बेचती है। और बहुत सा कागजों पर धन बढ़ा दिया है इससे गरीब लोगों को बहुत क्लेश पहुंचता है। सो यह बात राजा को करनी उचित नहीं क्योंकि इसके होने से बहुत गरीब लोग दु:ख पाकर बैठे रहते हैं। कचहरी में बिना धन के कोई बात होती नहीं। इससे कागजों के ऊपर जो बहुत धन लगाना है सो मुझको अच्छा मालूम नहीं देता। इसको छोड़ने से ही प्रजा में आनन्द होता है।

-सत्यार्थप्रकाश (प्रथम संस्करण- पृष्ठ- 348)

श्रीकृष्ण के प्रति महर्षि के विचार

देखो! श्रीकृष्ण का इतिहास महाभारत में अत्युत्तम है। उनका गुण, कर्म, स्वभाव, चरित्र आप्त पुरुषों के सदृश है। जिसमें कोई अधर्म का आचरण श्रीकृष्ण ने जन्म से मरणपर्यन्त बुरा काम किया हो, ऐसा नहीं लिखा। और भागवत में दूध, दही, मक्खन की चोरी, कुब्जादासी से समागम, परस्त्रियों से रासमण्डल, क्रीडा आदि मिथ्या दोष श्रीकृष्ण में लगाये हैं। इसको पढ़-पढ़ा-सुन-सुना के अन्य मतवाले श्रीकृष्ण की बहुत सी निन्दा करते हैं। जो यह भागवत न होता तो श्रीकृष्णजी के सदृश महात्माओं की झूठी निन्दा क्यों होती?

-सत्यार्थ प्रकाश 11वाँ समुल्लास

व्यायाम की प्रेरणा

जब 16 वर्ष का पुरुष होय तब से लेके जब तक वृद्धावस्था न आवे तब तक व्यायाम करे। बहुत न करें किन्तु 40 बैठक करे और 30 वा 40 दण्ड करे। कुछ भीत खम्भे वा पुरुष से बल करे, फिर लोट करे। उसको भोजन से एक घंटा पहिले करे, सब अभ्यास जब कर चुके उससे एक घंटा पीछे भोजन करे, परन्तु दूध जो पीना होय तो अभ्यास से पीछे शीघ्र ही पीवे। उससे शरीर में रोग न होगा, जो कुछ खाया वा पिया सो सब परिपक हो जाएगा, सब धातुओं की वृद्धि होगी तथा वीर्य की भी अत्यन्त वृद्धि होती

है, शरीर दृढ़ हो जाता है और हड्डियां पुष्ट हो जाती हैं। जाठराग्नि शुद्ध प्रदीप्त रहता है और सन्धि से सन्धि हाड़ों की मिली रहती है अर्थात् सब अंग सुन्दर रहते हैं। परन्तु अधिक न करना।

पदार्थ विधा के सम्बन्ध में

यज्ञ उसको कहते हैं कि जिसमें विद्वानों का सत्कार यथायोग्य शिल्प अर्थात रसायन जो कि पदार्थ विद्या उस से उपयोग और विद्यादि शुभगुणों का दान अग्निहोत्रादि जिनसे वायु, वृष्टि, जल, औषधि की पवित्रता करके सब जीवों को सुख पहुँचाना है, उसको उत्तम समझता हूँ। **-स्वमंतव्यामंतव्य**

प्रजातन्त्र

मनुष्यों को चाहिये कि जो सबसे अधिक गुण, कर्म और स्वभाव तथा सबका उपकार करनेवाला सज्जन मनुष्य है, उसीको सभाध्यक्ष का अधिकार देके राजा माने अर्थात् किसी एक मनुष्य को स्वतन्त्र राज्य का अधिकार न देवें, किन्तु शिष्ट पुरुषों की जो सभा है, उसके आधीन राज्य के सब काम रखें।

ऋग्वेद- मण्डल 1 सूक्त 77 मन्त्र 3

प्रजा को राजा चुनने का निर्देश

प्रजाजनों को यह उचित है कि आपस में सम्मति कर किसी उत्कृष्ट गुणयुक्त सभापति को राजा मान कर राज्य-पालन के लिये कर देकर न्याय को प्राप्त हों। **यजुर्वेद- अध्याय 6 मन्त्र 27**

राजा की योग्यता

वही राजा होने योग्य है जिसको समस्त प्रजानन स्वीकार करें। **(ऋग्वेद 2/1/8)**

स्वतन्त्र राजा से राष्ट्र की हनियां

प्रजातंत्र पर महर्षि- ह्जैसे सिंह वा माँसाहारी हष्ट-पुष्ट पशु को मार कर खा लेते हैं, वैसे स्वतन्त्र राजा प्रजा का नाश करता है। अर्थात् किसी को अपने से अधिक नहीं होने देगा। श्रीमान् को लूट-खसोट अन्याय से दण्ड दे के अपना प्रयोजन पूरा करेगा। **(स. प्र., छठा समुल्लास, पृ. 125)**

महर्षि दयानंद सरस्वती एवं तदुपरान्त आर्यसमाज द्वारा किए गए कार्य

- महर्षि दयानन्द सरस्वती ने 1875 में बम्बई में की आर्यसमाज की स्थापना
- महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने वेदों का भाष्य किया।
- 'वेदज्ञान मनुष्यमात्र के ज्ञान का स्रोत' - की घोषणा
- क्रान्तिकारी ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश की रचना।
- सैकड़ों पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन
- साहित्य क्षेत्र में करोड़ो पुस्तकों का किया प्रकाशन
- स्वराज्य एवं स्वदेश शब्दों की देन
- गुरुकुलीय शिक्षा पद्धति की पुनर्स्थापना
- पाखण्ड-अंधविश्वास के विरुद्ध जनजागरुकता में आर्यसमाज ने किया कार्य।
- उर्दू-अंग्रेजी के स्थान पर संस्कृत एवं हिन्दी भाषा की पुनर्स्थापना।
- हजारों क्रान्तिकारियों के प्रेरणास्रोत
- छूआछूत के विरुद्ध सफल अभियान का संचालन
- जाति विहीन समाज की स्थापना हेतु निरन्तर संघर्ष
- बाल विवाह का विरोध व विधवा विवाहों का प्रचलन
- स्त्री शिक्षा एवं स्त्री सम्मान का युगान्तरकारी अभियान
- गौ आधारित कृषि एवं आर्थिकी का प्रचार

सामाजिक कुरीतियों का विरोध

- जन्मना जातिवाद–छुआछूत
- बाल विवाह
- बहुविवाह सती प्रथा
- मृतक श्राद्ध
- पशु बलि
- नर बलि
- पर्दा प्रथा
- देवदासी प्रथा
- वेश्यावृत्ति
- शवों को दफनाना या नदी में बहाना
- मृत बच्चों को दफनाना
- समुद्र यात्रा के निषेध का खंडन
- अभक्ष्य मांसाहार

समाज सुधार के कार्य

- गुण–कर्म–स्वभाव आधारित वर्ण व्यवस्था का समर्थन
- शुद्धि आन्दोलन
- दलितोद्धार
- विधवा पुनर्विवाह
- अंतरजातीय विवाह
- सर्व शिक्षा अभियान
- नारी सशक्तिकरण
- नारी को शिक्षा का अधिकार सबको वेद पढ़ने का अधिकार
- गुरुकुल शिक्षा पद्धति का आरम्भ
- प्रथम हिन्दू अनाथालय की स्थापना
- प्रथम स्वदेशी बैंक की स्थपना, पंजाब नेशनल बैंक
- प्रथम गौशाला की स्थापना
- स्वदेशी आन्दोलन आरम्भ और संचालन
- हिन्दी भाषा का समर्थन

thearyasamaj.org

महर्षि दयानन्द के प्रमुख शिष्य एवं आर्य बलिदानी

★स्वामी श्रद्धानंद ★पंडित लेखराम ★स्वामी स्वतंत्रानंद सरस्वती ★पंडित गुरुदत्त विद्यार्थी ★महात्मा हंसराज ★महात्मा नारायण स्वामी ★स्वामी दर्शनानंद सरस्वती ★श्यामजी कृष्ण वर्मा ★लाला लाजपत राय ★महाशय राजपाल ★सरदार भगत सिंह के पितामह, अर्जुन सिंह ★सरदार अजीत सिंह ★पंडित राम प्रसाद बिस्मिल ★सरदार भगत सिंह ★गेंदालाल दीक्षित ★सुखदेव ★भाई परमानंद ★मदन लाल धींगरा इत्यादि श्रंखला इतनी लंबी है कि जिसके बारे में एक लंबा इतिहास लिखा जा सकता है।

देश की स्वाधीनता संग्राम में भाग लेने वाले 80% महानुभाव आर्य समाजी या आर्य समाज से प्रभावित थे। पंजाब की जनसंख्या में 5% आर्य समाजी ही पश्चिम पश्चिमोत्तर भारत के राष्ट्रीय आंदोलन में अग्रगामी थे जैसा कि भगत सिंह ने अपनी जेल डायरी में लिखा है।

सारी दुनिया में फैले आर्यसमाज के संगठन के अन्तर्गत अनेक संस्थाएं कार्य कर रही हैं।

- ❑ लगभग 10000 आर्य समाज मन्दिर विश्वभर में स्थापित हैं।
- ❑ लगभग 2500 विद्यालय एवं महा विद्यालयों का संचालन जिनमें डी०ए०बी० भी सम्मिलित है।
- ❑ लगभग 400 गुरुकुल पद्धति के आवासीय शिक्षण संस्थानों का संचालन 20000 से अधिक अनाथ बच्चों के पालन पोषण हेतु विभिन्न स्थानों पर अनाथालयों एवं बाल आश्रमों का संचालन
- ❑ लगभग 1500 से अधिक लघु-मध्यम चिकित्सालयों के संचालन द्वारा मनुष्य मात्र की सेवा
- ❑ आडम्बर और जाति पांति के बन्धनों से मुक्त हजारों विवाहों का प्रतिवर्ष आयोजन

- ❑ नौजवानों के शारीरिक विकास के लिये आर्यवीर दल द्वारा हजारों व्यायामशालाओं का संचालन
- ❑ नैतिक शिक्षा और शारीरिक शिक्षा के हजारों आवासीय शिविरों का हर वर्ष आयोजन।
- ❑ वनवासी क्षेत्रों में विद्यालयों के संचालन–लाखों वनवासियों को शिक्षा और नौजवानों के लिए उच्च शिक्षा के लिए शहरों में स्थाई आवासीय केन्द्रों का संचालन
- ❑ महिलाओं के लिए लघु उद्योग प्रशिक्षण केन्द्रों का संचालन
- ❑ महिला आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम, संन्यास आश्रम आदि का संचालन
- ❑ सारे देश में सैंकड़ो गौशालाओं का संचालन

देश-विदेश में उपस्थिति

भारत के बाहर विश्व के सभी महाद्वीपों में आर्यसमाज कर रहा है कार्य- विशेषकर निम्नलिखित देशों में

अमेरिका	**कनाडा**	**गुयाना**
सूरीनाम	**त्रिनीडाड**	**मॉरीशस**
इंग्लैण्ड	**आस्ट्रेलिया**	**नेपाल**
न्यूजीलैण्ड	**थाईलैंड**	**फीजी**
केन्या	**दक्षिण अफ्रीका**	**युगाण्डा**
ईस्ट अफ्रीका	**म्यांमार (बर्मा)**	**पाकिस्तान,**
सिंगापुर	**वैस्ट इंडिज**	**चैकगणराज्य**
हॉलैंड	**तंजानिया**	**जिंजिबार**
अर्मेनिया	**मलेशिया**	**बंगलादेश**
तंजानिया	**घाना**	

maharishidayanandsamaj.org

महर्षि दयानन्द

वह दिव्य ज्ञान का सच्चा सैनिक, विश्व को प्रभु की शरण में लाने वाला योद्धा, और मनुष्यों व संस्थाओं का शिल्पी तथा प्रकृति द्वारा आत्मा के मार्ग में उपस्थित की जाने वाली बाधाओं का वीर विजेता था। मेरे समक्ष आध्यात्मिक क्रियात्मकता की एक शक्ति-संपन्न मूर्ती दयानन्द की उपयुक्त परिभाषा प्रतीत होती है।

-श्री अरविन्द घोष

पंडित इन्द्र विद्यावाचस्पति द्वारा लिखित यह जीवनी पढ़कर आप महान दयानन्द को वस्तुतः जान पाएंगे।

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट

मुख्यालय, ४२७, गली मन्दिर वाली,
नया बांस, दिल्ली- ११०००६
दूरभाष- ४३७८११९१, २३९८७५४५, ९६५०७२२७७८
E-mail : **aspt.india@gmail.com**

978-81-961699-0-9